- श्री राम उवाच–7
  आत्म कल्याण का मार्ग

- आचार्य श्री रामलालजी म. सा.

- प्रवेश
  प्रथम - 30 जुलाई 2006, 3100 प्रतियां, इन्दौर

- मूल्य : 50/-

- अर्थ सहयोगी :
  श्री रतनलाल मुकेश कुमार रांका, चेन्नई (सारोठ)

- प्रकाशक :
  श्री अ. भा. साधुमार्गी जैन संघ
  समता भवन, रामपुरिया मार्ग, बीकानेर (राज.)
  फोन : 0151-2544867, 3092177
  फैक्स : 0151-2203150

- मुद्रक :
  कल्याणी प्रिण्टर्स,
  अलख सागर रोड, बीकानेर (राज.)
  फोन : 0151-2526890

प्रकाशकीय

आचार्य प्रवर श्री रामलाल जी म.सा. हुक्मगच्छ के नवम् नक्षत्र एवं परम पूज्य आचार्य प्रवर श्री नानालालजी म.सा. के पट्टधर है। आचार्य श्री नानालालजी म.सा. ने स्वयं अपने कर कमलों से बीकानेर के ऐतिहासिक जूनागढ़ दुर्ग के प्रांगण में चतुर्विध संघ की साक्षी में आपको युवाचार्य पद की पछेवड़ी प्रदान की थी। प्रस्तुत कृति आपके तत्कालीन जयपुर के मंगल प्रवचनों का सम्पादित संकलन है। इन प्रवचनों का संरक्षण महाश्रमणीरत्ना श्री इन्द्रकंवरजी म.सा. के निर्देशानुसार विदुषी महासतीवर्या श्री सुयशप्रज्ञाजी म.सा. ने किया। सम्पादन हेतु मेरे मित्र श्री इन्द्रचन्द बैद ने ख्यातनाम शब्द-शिल्पी डॉ. आदर्श सक्सेना का चयन किया।

ग्रन्थ-प्रकाशन में हमारे संघ के उदीयमान उत्साही कार्यकर्ता श्री रतनलाल जी रांका, चैन्नई का अर्थ सहकार- रूप आग्रह रहा । इन सभी श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के भरपुर सहयोग से यह भगीरथ कार्य सम्पन्न हो सका है। श्रद्धेय एवं आत्मीय जनों के प्रशस्त सहकार हेतु मैं अपनी अनेकशः शुभकामनाएं संप्रेषित किये बिना नहीं रह सकता।

सम्पादन में आचार्यप्रवर के मूल भावों को सुरक्षित रखने का पूर्ण प्रयास किया गया है तथापि अज्ञानवश यदि कहीं कोई त्रुटि रह गई हो तो उसके लिए हम हृदय से क्षमाप्रार्थी है।

हमें विश्वास है कि यह संकलन पाठकों को आचार्यप्रवर की अमृतवाणी से लाभान्वित होने का सुअवसर प्रदान करेगा।

शान्तिलाल सांड
संयोजक
साहित्य प्रकाशन समिति
श्रीअ.भा. साधुमार्गी जैन संघ, समता भवन, बीकानेर

अर्थ सहयोगी : एक परिचय

श्री रतनलालजी मुकेशकुमारजी राँका,
चेन्नई/सारोठ

स्वनामधन्य श्रेष्ठिवर स्वर्गीय श्री रोड़मलजी सा. राँका तथा उनकी धर्मपत्नी सुश्राविका स्वर्गीय श्रीमती कंचनबाई मूल निवासी सारोठ (ब्यावर के पास) हैं। स्व. श्री मेघराजजी रांका के सुपुत्र श्री रोड़मलजी उदार, सरल, धर्मनिष्ठ, सेवाभावी सुश्रावक थे। आपके पांच पुत्र एवं एक पुत्री हैं। श्री राँकाजी ने अनेक व्रत-प्रत्याख्यान अंगीकार कर रखे थे। नियमपूर्वक ६-६ सामायिक, स्वाध्याय आपकी प्रतिदिन की दिनचर्या में शामिल थे।

आपके ज्येष्ठ पुत्र स्व. श्री बालचन्दजी राँका ने अपना कार्यक्षेत्र दक्षिण में चेन्नई को बनाया। व्यापार में अभिवृद्धि के साथ-साथ आपने धार्मिक, सामाजिक कार्यों में भी अपार यश प्राप्त किया। 'समता भवन', तण्डियारपेट के निर्माण में आप का मुख्य सहयोग रहा। उनके पुत्र श्री अशोकजी भी उन्हीं के पदचिह्नों पर चल रहे हैं।

आपके द्वितीय पुत्र श्री कन्हैयालालजी राजस्थान में ही रहते हैं। आप सारोठ संघ के अध्यक्ष हैं। तृतीय एवं चतुर्थ पुत्र श्री सम्पतराजजी एवं श्री पारसमलजी एवं पुत्री श्रीमती नवरतनबाई रूणीवाल भी धर्मनिष्ठ एवं सद्संस्कारी हैं एवं सपरिवार चेन्नई में रहते हैं।

आपके पाँचवें पुत्र श्री रतनलालजी राँका अत्यन्त मिलनसार, मृदुभाषी, सुहृदय, उदारमना, सेवाभावी युवारत्न हैं। आपका धार्मिक-सामाजिक कार्यक्षेत्र विस्तृत है। आपने श्री साधुमार्गी जैन संघ, तण्डियारपेट के पूर्व अध्यक्ष के रूप में समता भवन एवं उसकी गतिविधियों में काफी प्रशंसनीय कार्य किया। आप श्री साधुमार्गी जैन संघ चेन्नई के मानद् मंत्री हैं। अ.भा.सा. जैन संघ, बीकानेर के एवं भगवान महावीर अहिंसा प्रचार संघ, चेन्नई के आप न केवल उपाध्यक्ष हैं बल्कि एक कर्मठ कार्यकर्ता भी हैं। स्थानीय एवं बाहर की अनेक संस्थाओं से आप जुड़े हुए हैं एवं उनमें आपका महत्त्वूपर्ण सहयोग रहता है। 'आर.आर. प्लास्टिक' आपका व्यापारिक प्रतिष्ठान है। आप केवल व्यापार तथा धनोपार्जन में नहीं, अपितु पारमार्थिक कार्यों में भी पूर्णरूपेण सक्रिय हैं। 'सादा जीवन; उच्च विचार' के आप जीवंत प्रतीक है।

आपकी धर्मपत्नी श्रीमती सन्तोषबाई धार्मिक प्रवृत्ति, संतसेवा एवं आतिथ्य-सत्कार में सदैव अग्रणी रहती है एवं अपने पति को धार्मिक कार्यों में सदा सहयोग देती रहती है। सचमुच में यह कहावत यहाँ शत-प्रतिशत चरितार्थ होती है कि 'हर सफल आदमी के पीछे एक महिला का हाथ रहता है।' आपके दो सुपुत्र - श्री मुकेशकुमार और राकेशकुमार भी अपने पिता के पदचिह्नों पर चल रहे हैं। आपकी पुत्रवधु सौ. दीपा व आरती भी धार्मिक प्रवृत्ति से ओतप्रोत है। आपके दो सुपौत्र श्री ऋषभ व श्री आदेश व एक सुपौत्री महक है।

आपका परिवार एक धर्मनिष्ट परिवार है। आदर्शत्यागी, पंडितरत्न, शासन प्रभावक श्री धर्मेशमुनिजी म.सा. एवं आदर्शत्यागिनी विदुषी साध्वी श्री जयश्रीजी म.सा. आपके संसारपक्षीय बहनोई व बहन हैं।

आपका परिवार स्व. आचार्य श्री नानेश एवं वर्तमान आचार्य श्री रामेश के प्रति अनन्य आस्थावान एवं पूर्णरूपेण समर्पित है। आपने श्री अ.भा. साधुमार्गी जैन संघ को वर्तमान आचार्य श्री रामलालजी म.सा. के प्रवचनों एवं सद्साहित्य को प्रकाशित करने एवं जनसाधारण तक पहुँचाने के लिए अपनी सहमति प्रदान की है, इसके लिए संघ आपका आभारी है। हमें अत्यन्त प्रसन्नता का अनुभव हो रहा है कि अब तक श्री राम उवाच के छः संग्रह निकल चुके हैं और अब यह सातवां संग्रह आपके समक्ष है। सुज्ञ पाठक अधिक से अधिक इसका लाभ उठायेंगे, इसी आशा और विश्वास के साथ...

केशरीचंद सेठिया

आत्मकल्याण का मार्ग

आत्मकल्याण का मार्ग

जय जय जय भगवान्.....।

सिद्ध भगवान की स्तुति हृदय कमल को विकसित करने वाली है। हमारे हृदय में, हमारे भीतर वह सिद्धस्वरूपी आत्मा विराजमान है और सिद्ध भगवान् की स्तुति उसे जागृत करने, विकसित करने में सहयोगी होती है। प्रत्येक भव्य आत्मा चाहती है कि उसे सिद्धि मिले। परन्तु सिद्धि ऐसे ही नहीं मिलती, उसकी प्राप्ति का मार्ग भी बताया गया है। तीर्थंकर देवों ने सिद्धि-प्राप्ति के लिए चुतुर्विध संघ की स्थापना की है- साधु-साध्वी, श्रावक-श्राविका, क्योंकि यदि संघ होता है तो आबाल-वृद्ध उसमें रह कर संयम की साधना कर सकते हैं एकल-बिहारी अवस्था से भी साधना हो सकती है किन्तु एकल विहार स्वीकार करने की क्षमता व अपेक्षित गुण होने पर ही वह स्वीकार हो सकता है।

तीर्थंकर स्वयंखोजी होते हैं, वे खोज करते हैं और केवलज्ञान का आलोक प्राप्त होने पर देखते हैं कि संघ-बद्ध अवस्था ही महत्त्वपूर्ण है क्योंकि उसमें रह कर बालक-वृद्ध सभी का कल्याण हो सकता है। उसमें तीर्थंकर भगवन्तों के समय में गणधरों की व्यवस्था रही थी और उसके बाद आचार्यों की परम्परा चली। स्वयं भगवान् महावीर ने पंचम गणधर सुधर्मा स्वामी को आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया था। उसी अनुक्रम में यह निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति निरन्तर गतिशील रही है। इसमें बीच-बीच में उतार-चढ़ाव आये, ह्रास की स्थितियां भी आईं और क्रांतिकारी आचार्यों ने इसे उन्नत भी किया। उसमें आचार्य पूज्यश्री हुक्मीचन्दजी म.सा. और इधर आचार्यश्री रतनचन्दजी म.सा. आदि ने उत्क्रान्ति के स्वर मुखरित किये और इस संस्कृति को विकास की दिशा में आगे बढ़ाया। यहां बैठे लोगों में शायद ही कोई ऐसा हो जिसने उनके नाम नहीं सुने हों।

युगद्रष्टा ज्योतिर्धर जवाहराचार्य राष्ट्रसंत थे। राष्ट्रसंत होना कोई छोटी बात नहीं है। जैसे आज कोई व्यक्ति डॉक्टर की डिग्री प्राप्त कर लेता है, और

उसे उपाधि मिल जाती है वैसी कोई डिग्री उन्हें प्राप्त नहीं थी, किन्तु जिस समय देश गुलामी के बंधनों में जकड़ा हुआ था, उस समय आचार्य जवाहर ने उत्क्रांति का शंखनाद किया। उन्होंने कहा- बंधुओ! गुलामी में रहकर धर्म-आराधना कैसे हो सकती है? स्थानांग सूत्र में दस धर्म बताये गये हैं- ग्रामधर्म, नगरधर्म, राष्ट्रधर्म आदि। यदि इनकी व्यवस्था सही नहीं हो। चारों तरफ १४४ धारा लगी हुई हो, आतंकवाद छाया हो, कर्फ्यू लगा हो तो उस स्थिति में व्यक्ति कैसे धर्म-आराधना करे। इसलिए उन्होंने कहा- ये व्यवस्थाएं सही होनी चाहिएं। आपका ही जूता आपके माथे पर पड़ रहा है। आप विदेशी वस्त्र पहनते हैं, उसकी मेहनत देशी करते हैं और उसका मुनाफा विदेशियों को मिलता है। उन्होंने खादी के उपयोग का उपदेश दिया।

वे जब रतलाम पधारे थे तब वहां के नरेश भी व्याख्यान में आये थे। तब लोगों ने कहा था कि नरेश खादी के कट्टर विरोधी हैं अतः आप खादी की हिमायत न करें। आचार्यदेव ने कहा था- जैसा द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव बनता है वैसा हम सोचते और कहते हैं। और आचार्य देव ने खादी का ऐसा विवेचन प्रस्तुत किया कि नरेश ने उसी समय खादी के उपयोग की प्रतिज्ञा ले ली थी। यह था महान् संत का प्रभाव। ऐसे एक नहीं, अनेक प्रसंग हैं जिनका मैं विवरण नहीं दे सकता।

आचार्य जवाहर का उदयपुर में चातुर्मास था। उस समय कांफ्रेन्स के अध्यक्ष हेमचन्दभाई दर्शनार्थ उपस्थित हुए। लोगों ने स्वागत किया। जब ऑल इंडिया स्तर के नेता आते हैं तो स्वाभाविक भी है कि लोग उनका स्वागत करें। उस समय उन्होंने कहा कि यह भारतीय संस्कृति है, पाश्चात्य नहीं। भारतीय संस्कृति में नारी जिसके गले में माला डाल देती है, उसका साथ कभी नहीं छोड़ती। आपने अध्यक्ष बनाया है, बनाने का मतलब यह नहीं कि मंच पर माला पहना दी और पीछे टांग खींच कर नीचे उतार दें। वह पाश्चात्य संस्कृति है, जिसमें आज शादी, कल तलाक की बात होती है। आज जिन्हें बड़े जोर-शोर से अध्यक्ष पद पर मनोनीत करते हैं, कल उन्हीं की पीछे से टांग खीचते हैं।

बंधुओ! चिन्तन का प्रसंग है, हम स्वयं जवाहर किरणावली पढ़ें, उसके अनुरूप चिन्तन करें और जीवन ढालें तो कल्याण-मार्ग प्राप्त कर सकते हैं। नहीं तो, गाडी दौड़ रही है, एक प्रवाह चल रहा है, जैसे नदी का प्रवाह समुद्र में जा मिलता है वैसे ही चतुर्गति-रूप संसार-समुद्र में परिभ्रमण करते रहेंगे। कषाय

बढ़ता है, राग-द्वेष बढ़ता हैं, तो वह संसार को बढ़ाने वाला बनता है। हमारा स्वरूप शांत-प्रशांत होना चाहिए, समभावमय होना चाहिए। हम देखें कि हम किस प्रकार की स्थिति में चलते हैं।

आज मैं आचार्य जवाहर की बात क्यों कर रहा हूं? आज उनकी पुण्यतिथि है इसलिए उनकी कुछ बातें आपके सामने रखी। उन्हीं के पाट पर आने वाले थे आचार्य गणेश, जिन्होंने कहा- मुझे पद नहीं संयम से प्यार है। बिना संयम के हजारों की टोली लेकर चलूं तो मुझे आत्म संतुष्टि नहीं मिलेगी। वृद्धावस्था में कैसा क्रांतिकारी कदम उठाया था उन्होंने ! आज की दुनिया भले ही कुर्सी की ओर भागे, पर उन्होंने निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की रक्षा के लिए कदम उठाया था।

आचार्य जवाहर ने नक्शा बनाया, आचार्य गणेश ने नींवं भरी और आचार्य नानेश ने भव्य भवन निर्मित कर दिया। हम उसमें आराम से बैठे हैं। पुरुषार्थ किनका हुआ? नक्शा बनाना भी कोई छोटी बात नहीं है। बड़ी सूझबूझ, तकनीकी ज्ञान और दूरदृष्टि की जरूरत होती है उसमें। सार्थक जीवन का नक्शा बनाना भी ऐसा ही श्रमसाध्य कार्य है। हम स्थानकवासी समाज की उन्नति चाहते हैं तो एक नेतृत्व में चलें। यदि एक नेतृत्व में चले, संगठित हुए तो एक रूप सामने आयेगा। संवत् १९९० में अजमेर सम्मेलन में उन्होंने नक्शा प्रस्तुत किया और लगभग १९ वर्षों के बाद सादड़ी सम्मेलन में अनेक संप्रदायों के मुनियों का सम्मेलन हुआ। उन प्रतिनिधि मुनियों ने अपने-अपने पदों का त्याग किया और उस समय ऐसी सोच बनी कि एक का नेतृत्व होना चाहिए। सर्वानुमति से आचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. को नवनिर्मित श्रमण संघ का नेतृत्व सौंपा गया। वैशाख शुक्ला अष्टमी को वहां प्रतिनिधि मुनियों ने उन्हे चादर ओढ़ा दी और उनकी गोद में अपने प्रतिज्ञापत्र सौंपे। समय बदला, मानसिकताएं बदलीं। आज क्या दृश्य सामने आ रहा है, मुझे कहने की आवश्यकता नहीं है। किन्तु गणेशाचार्य ने अपनी जिन्दगी के पिछले समय में उस नक्शे को अमली रूप दिया। उन्होंने संकल्प किया कि मुझे इसकी नींवं भरनी है और उन्होंने नींवं भरी। आचार्य नानेश ने अथक परिश्रम करके, अपना खून-पसीना एक करके, दिन-रात की परवाह न करके संघ को सुव्यवस्थित करने में अपना जीवन लगा दिया। उस समय के श्रावकों का योगदान भी भुलाया नहीं जा सकता। क्योंकि बिना श्रावकों के सहयोग के धर्म का यह रथ आगे बढ़ ही नहीं सकता था। दो

पहियों पर रथ कैसे दौड़ सकता था? अकेले आचार्य का एक पहिया क्या कर सकता था? दो पहियों की साइकिल तो फिर भी कुछ दूर चल सकती है पर यदि लंबी यात्रा करनी हो तो चार पहियों की आवश्यकता होगी ही। धर्मरथ को तो सतत चलते रहना होता है।

आचार्य जवाहर के समय भैरूदानजी सेठिया, वर्धमानजी पितलिया और बहादुरमलजी बांठिया जैसे कर्मठ श्रावक हुए थे। वे खड़े हो जाते थे तो लगता था, कोई आया है। आचार्य गणेश के समय भी श्रीमान् हीरालालजी सा. नांदेचा, श्री छगनलालजी सा. मूथा आदि कर्मठ श्रावक रहे थे। आचार्य नानेश को जब युवाचार्य पद की चादर ओढ़ाई गई, उसी समय साधुमार्गी संघ के रूप में श्रावकों का एकीकरण भी किया गया। उस समय के श्रावकों में सेठ छनगलालजी सा. मूथा को शायद ही कोई विस्मृत कर सके। वे शुरू से लेकर अन्तः तक आचार्य जवाहर से अनुप्राणित रहे। शुरू से अंत तक संघ से वे जुड़े रहे, पर कभी किसी पद की कामना नहीं की। वे कहते थे- मुझे पद से क्या लेना, किन्तु उनका वीटो पावर चलता था। मंच पर कोई भी चर्चा चल रही हो, किन्तु यदि मूथाजी ने कुछ कह दिया तो वही सर्वसम्मति से मान्य हो जाता था। उसके बाद अनेक सपर्पित श्रावकों ने निष्ठा के साथ संघ की सेवा की व कर रहे हैं। संघ-सेवा के अनेक क्षेत्र हैं और सम्पूर्ण देश उनकी परिधि में आ जाता है। यह आचार्यश्री नानेश की निस्पृह साधना का ही परिणाम है कि तीर्थंकर देवों द्वारा स्थापित यह चतुर्विध संघ एक है, कहीं कोई भेद नहीं है।

आचार्य नानेश ने अपने त्याग और तप से यह भव्य भवन वनाया है। आप और हम, जो उसमें बैठे हैं, उनसे प्रेरणा लेकर अपने जीवन को भव्य बनायें और उसका आनंद लेना सीखें। उसके साथ छेड़छाड़ न करें। विचार कीजिये कि आज आपके घरों में संगमरमर के या ग्रेनाइट के पत्थर जड़े हैं, उन पर यदि कोई व्यक्ति हथौड़े से कील ठोकना चाहे तो वह चोट ग्रेनाइट पर लगेगी या आपके दिल पर लगेगी? क्या आप किसी को ग्रेनाइट पर कील ठोंकने देंगें? आप तुरन्त कहेंगे- यह क्या कर रहा है? आपका पत्थर से लगाव है इसलिये आपका दिल जैसे दहल जाता है वैसे ही पूर्वाचार्यों द्वारा संघ रूपी भवन का यह जो व्यवस्थित रूप बनाया गया है उस पर यदि कोई चोट करेगा तो वह चोट कहां लगेगी, आप अपना दिल टटोल कर उत्तर दें।

इस गुलाबीनगरी में वहुत-से महापुरुषों के चातुर्मास हुए हैं। आचार्यश्री

नानालालजी म.सा. का चातुर्मास भी हुआ था। पहले होली चातुर्मास हुआ, फिर चातुर्मास। उस समय संस्था के जौहरियों ने कहा था- आपको विवाद निपटारा करने का निर्णय लेना है। तब आचार्यदेव ने कहा था- निर्णय मैं नहीं दे सकता। आप एक साथ बैठ कर विचार कर लें। और वे बैठे तो ६० प्रतिशत मुद्दा तो वैसे ही हल हो गया। "सौ सेणों का एक मत" और एक मूर्ख के सैकड़ों मत होते हैं। अब यह आप पर है कि आप किसे पसंद करते हैं। आप सब सयाने हैं इसलिए आपके साथ तो सौ सेणों का एक मत वाली बात ही लागू होगी।

मैं साधु बनने के बाद पहली बार जयपुर आया हूं। पहले जब गुरुदेव के चातुर्मास में आया था तब कुछ नहीं जानता था। मुझे पूछा गया था गुरु आमना ली हुई है? मैंने कहा था- नहीं। यहीं मैने गुरु आमना ली, फिर चला गया। चार माह बाद गुरुदेव के चरणों में आया, दो वर्ष रहा, फिर दीक्षा हो गई। यह बात तो आपको भलभांती ज्ञात है कि यहां बड़े-बड़े चातुर्मास हुए हैं परन्तु मुख्य बात चातुर्मासों की नहीं है, मुख्य बात है धर्म और संघ के प्रति उस समर्पणा की, जिससे ऐसे आयोजन सार्थक होते हैं। आचार्यदेवों ने हमे रास्ता दिखा दिया है, परन्तु अपने उद्धार के लिये उस पर चलना तो हमें स्वयं को ही होगा। मैं पहले ही कह चुका हूं कि तीर्थंकरदेवों ने भव्य आत्मा के उद्धार के लिये चतुर्विध संघ की स्थापना की है। सिद्धस्वरूपी यह आत्मा उस मार्ग पर निष्ठा एवं समर्पणाभाव के साथ चल सके, ऐसी स्थितियों का निर्माण हमें करना है। आप सभी जागृत एवं आत्मचेता सुश्रावक है, संयम-साधना की विधियों से आप परिचित भी हैं। मैं तो केवल सचेत बनाये रखने का काम कर सकता हूं। आप से अभी इतना ही कहना पर्याप्त है।

❑❑

सार्थक क्रिया का स्वरूप

अनादिकाल से हम भ्रमण कर रहे हैं। भ्रमण करने का कारण है कि हम अविद्या से ग्रस्त हैं। अज्ञान के कारण भ्रमित हो जाते हैं। हम भ्रम करते हैं तो भ्रमण करना पड़ता है। यदि भ्रमित न हों तो, भ्रमण टल सकता है। अधिकांशतः हम छोटी-छोटी बातों में भ्रमित हो जाते हैं। भ्रमित हो जाने पर विचारों में कई उतार-चढ़ाव आते हैं, और वे ही हमारे भ्रमण के कारण बनते हैं। एक और बात है। अनादि से हम क्रियाशील हैं। हमारी क्रिया कभी रुकी नहीं है। औदारिक शरीर में रहे तब भी क्रिया की, और वैक्रिय में भी क्रिया की। आज तक हमने क्रिया से एक क्षण को भी विश्राम नहीं लिया है। ये सारी क्रियाएं करते-करते हमें थकान भी कहां आ रही है? हमारी क्रिया चौबीसों घंटे चालू रहती है। और जब तक क्रिया चालू है, भ्रमण का अंत नहीं होगा। तव हम क्या करें? तब यह समझ लें कि जहर से जहर का नाश होता है। यदि हमें इस क्रिया को समाप्त करना है, संसार में भ्रमण को रोकना है तो वही क्रिया करें जो भगवान् ने बताई है। तब क्रिया भी होती रहेगी, अर्थात् हम क्रिया भी करते रहेंगे, जो हमारा स्वभाव बन गया है, और उस क्रिया का दुष्परिणाम भी नहीं होगा। इसके विपरीत उसकी प्रतिक्रिया होगी। यह प्रतिक्रिया उस अवांछित क्रिया का यदि एक ओर काट करेगी तो दूसरी ओर किसी सार्थक परिणाम तक हमें ले भी जायेगी। यह क्रिया पांच महाव्रत पांच समितियों और तीन गुप्तियों की है।

समझ लेने की बात यही है कि यदि चलना नियत ही है तो वैसे चलें, उस दिशा में चलें और उस हेतु चलें जिससे चलना निरर्थक न हो। उस चलने या क्रिया की कुछ ऐसी सार्थक उपलब्धि हो जो हमें भववंधन से छुटकारे की ओर ले जाय। ऐसा चलना ज्ञान, दर्शन और चरित्र के लिये चलना होगा। इस प्रकार चलना है तो देख कर चलो "तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे"। उसी में रम जाओ, उसी को माध्यम वना लो, उसके अलावा कोई भी विचार न हो।

चलना, यह भी क्रिया है और जो संसार में हो रही है, वह भी क्रिया है। कवि आनन्दघनजी ने भी कहा है-

"जे किरिया करी चउगति साधे, ते न अध्यातम कहिये रे"

वे क्रियाएं आध्यात्मिक नहीं हैं।

"निज स्वरूप जे किरिया साधे, तेह अध्यातम लहिये रे।"

संसार का रूप है क्रियाशील, और भगवान कहते हैं- तुम्हें अक्रिय बनना है। बात अटपटी लग सकती है, परन्तु इसमें गूढ़ अर्थ छिपा हुआ है। उस गूढ़ अर्थ को समझें। भगवती सूत्र का प्रकरण चल रहा है, उस में प्रश्न आता है कि 'तथारूप श्रमण-माहण की पर्युपासना का क्या फल होता है?' तो कहा गया-

"सवणे णाणेय विण्णाणे, पच्चक्खाणे य संजमे।
अवण्हए तवे चेव, वोदाणे अकिरिया सिद्धि।"

'सवणे णाणे' से 'वोदाणे' तक पूर्व में व्याख्या कर चुका हूं। तप का फल बताया कर्मों का नाश और कर्मनाश के बाद बताया अक्रिया। फिर न तो संसार साधने की क्रिया करनी है, न आध्यात्मिक दिशा में रमण करने की क्रिया करनी है। क्योंकि जब जहर से जहर को काट दिया तो फिर किसी क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती है, फिर तो अक्रिय बन गये।

भगवान् महावीर ने कहा है- आप मन का निरोध कर लो, वचन का निरोध और काया का निरोध कर लो और अक्रिय अवस्था को प्राप्त कर लो। यह है तीर्थंकरदेवों का चिन्तन, चिन्तन या यह कहूं कि उन्होंने यथार्थ को देखा, समझा और तत्त्व की बात कह दी। उन्होंने कह दिया कि संसार से उपरत होने के लिए ५ समिति, ३ गुप्ति की क्रिया में लगो। यह नहीं कर सको तो श्रावक-व्रत स्वीकार करो। यदि इन क्रियाओं में लगे तो इन क्रियाओं से संसार की क्रिया को रोक कर निष्क्रिय हो जाओगे। आप कहेंगे- क्या निकम्मा होना श्रेष्ठ है? वस्तुतः निकम्मा शब्द का जो रूढ़ अर्थ लिया जाता है, वह यहां नहीं लिया गया है। क्रिया के लिए कर्म की आवश्यकता है। जब कर्म ही नहीं रहे तो क्रिया कैसे होगी?

आप जानते हैं कि जिस समय जवानी की अवस्था होती है, तब कोई व्यक्ति क्विंटल का तो कोई मन-भर का बोझा लेकर चल लेता है। अंतगड़ सूत्र प्रकरण में पढ़ा होगा कि आज जो व्यक्ति शरीर से जर्जरित है जिसकी टांगें लडखड़ा रही हैं, डंडे को पकड़े धीरे-धीरे चल रहा है और ईंटों के ढ़ेर में से

एक-एक ईंट उठा कर ले जा रहा है, क्या वह जवानी में भी एक-एक ईंट उठाकर ले जाता था? जवानी में जो किया वह और था, बुढ़ापे में वह क्रिया संभव नहीं है। उसी प्रकार जिस समय कर्मों का रस-अनुभाग तीव्र होता है, उस समय की क्रिया भिन्न होती है। जब वह निर्बल हो जाता है तब क्रिया शिथिल हो जाती है। जब अक्रिया की स्थिति में आते हैं और जिस समय मन-योग का निरोध, वचन-योग का निरोध किया जाता है उस समय कर्मों की स्थिति भी उस प्रकार की होती है कि मालिक चला गया, अब वे भी भागने की कोशिश में हैं और जो भागने की कोशिश में है वह क्या कर पाएगा? वे कर्म आत्मा को प्रताड़ित नहीं कर सकते। फिर अंत में काया का निरोध होता है तो उसके बाद क्या बताया है? आप कहेंगे- मोक्ष होता है। पर ऐसा नहीं है। यह मोक्ष नहीं, यह संसार की अंतिम अवस्था है- मुक्ति इसके बाद की बात है। यह १४वें गुणस्थान की अवस्था है, वह संसारी है, अक्रिया की स्थिति में पहुंच गया है, फिर अ,इ,उ,ऋ,लृ इन पाँच ह्रस्व अक्षरों के उच्चारण जितने समय की अवस्था को साधकर आत्मा सम्पूर्ण कर्मों का क्षय करके सिद्धि में चला जाता है।

भगवान् ने कहा- साधु को गृहस्थ के घर में नहीं रुकना। कोई कह सकता है, इससे क्या फर्क पड़ता है? वह तो साधु है। साधु पर इतना संदेह क्यों? उसमें वीरता है, धीरता है तभी तो साधु बना है। तो बतलाया गया है कि गृहस्थ के घर में कभी बच्चा रोवेगा, कभी नल चालू रहेगा तो पानी बहने लगेगा, कभी लड़ने की आवाजें आयेंगी। ऐसी स्थितियां बनेंगी तो साधु के मन में ऊंचे-नीचे भाव आ सकते हैं। उतार-चढ़ाव हो सकता है- अरे! बच्चा रो रहा है, पानी व्यर्थ में ढुल रहा है। हालांकि उसे करना-धरना कुछ नहीं है, पर विचार तो आयेंगे। घर में कड़कड़ाहट हो रही है तो उसे लगेगा कि गृहस्थ का कैसा हाल है? अब आप ही सोचिये कि उसे साधना करनी है या इन विचारों में उलझना है? इसलिए भगवान् ने कहा है- गृहस्थ के घर नहीं रुकना। यदि अन्य कोई स्थान नहीं है और एकाध दिन रुके तो अलग बात है लेकिन अधिक रुकने से वे संस्कार आ सकते हैं। वहां तो बर्तन पीतल के हैं किन्तु हमारे पात्र लकड़ी के हैं, बड़ी कठिनाई हो जायेगी। कहा भी है- **'संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति'** कदाचित् कोई भ्रमित या डावांडोल न भी हो, किन्तु वहां रहने से व्यवहार शुद्ध नहीं रहेगा। फिर सभी साधु एक जैसी मानसिकता वाले नहीं होते। ऐसी सुविधा का दुरुपयोग भी हो सकता है और निर्मल साधुचर्या खण्डित हो सकती है।

स्थुलिभद्र जब कोशा गणिका के यहां चातुर्मास संपन्न करके आये और

दूसरे संत भी आये तब गुरु ने कहा- 'दुक्करं', तुमने दुष्कर कार्य किया है। किन्तु स्थुलिभद्र से कहा- महादुक्कंर- महादुक्कंर। महादुष्कर कार्य संपन्न किया है। उनके मन में विचार आया- यह कैसी प्रशंसा। हमने तो चातुर्मास विकटतर स्थितियों में सम्पन्न किये! कुएं की मेड़ पर किये, एक झपकी आ जाती तो भीतर गिर जाते, सांप की बांबी पर रहे, हिले तक नहीं अन्यथा सांप डस लेता! फिर भी कहते हैं दुक्करं और स्थूलिभद्र ने तो चातुर्मास गणिका के रंगमहल में किया फिर भी उनके लिये कह दिया- महादुक्करं! दूसरी बार प्रसंग आया तो सोचने लगा- कोई दूसरा मांग न ले अतः पहले कह दिया- "गुरुदेव! मैं कोशा गणिका के यहां चातुर्मास करूंगा।" गुरु ने कहा- तुम्हारे लिए प्रशस्त नहीं है। ऐसी कई बाते हैं? चले गये, क्या दशा बनी? संयम से विचलित हुए या नहीं? वह तो कोशा श्राविका बन चुकी थी। उसने विचलित मुनि को अपनी तरकीब से पुनः संयम में स्थिर कर दिया अन्यथा क्या हालत होती? मैं सारी कहानी नहीं रख रहा हूं। भगवान् ने जो कहा है- गृहस्थ के घर में नहीं रुकना क्योंकि यदि मानसिकता भिन्न हुई और मनोबल या तप-भाव पर्याप्त दृढ़ नहीं हुआ तो वहां रुकना कषायवृद्धि का कारण बन सकता है। वैसे संस्कार लगें तो साधु भ्रमित होता है और भ्रमणशील बनता है। इसलिए भगवान ने कहा है- संसार की क्रिया छोड़कर अक्रिय बनो।

कवि आनन्दघनजी ने भी कहा है कि-

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो.................

एक बार भगवान को रिझा लिया तो वह संग नहीं छोड़ता, वह सादि-अनंत भंग प्राप्त हो जावेगा। आदि है, पर अंत नहीं है। उस अवस्था का लक्ष्य बने। सुख-विपाक सूत्र की पूर्व भूमिका भी आप सुन गये हैं। उसमें देखना है कि उन्होंने कैसी जीवनशैली अपनाई? उससे दिशाबोध लेकर चिन्तन-मनन करेंगे तो हमारा जीवन धन्य बनेगा।

❑❑

सद्धा परम दुल्लहा

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो रे................।

चाह का कहीं अंत नहीं है। हम सोते भी है तो किसी-न-किसी प्रकार की चाह लेकर सोते हैं। जैसे ही उडते हैं, उठने के साथ ही कोई चाह प्रारंभ हो जाती है। बाथरूम चाहिए, बाथरूम में पानी नहीं है तो पानी चाहिए, फिर नाश्ता चाहिए। मतलब, चाह-ही-चाह! सुबह से शाम चाह में गुजर जाती है। कभी खाने-पीने की चाह, कभी शरीर के सौन्दर्य-प्रसाधनों की चाह, कभी आभूषणों-वस्त्रों की चाह, कभी परिवार की चाह-बच्चा-बच्ची चाहिये, पोता नहीं है तो पोता चाहिए। एक नहीं, अनेक चाहें दिन-भर में जगती रहती हैं। और भगवान कहते हैं- 'जब तक चाह है तब तक मुक्ति नहीं।' यही तो बंधन है। जिस चाह में चल रहे होते हैं, वही बांधने वाली बन जाती है। जैसे ही चाह खत्म होती है, मुक्त होते देर नहीं लगती। आप हलके होते-चले जाते हैं। यदि चाह हो और उसकी पूर्ति न हो तो व्यक्ति आक्रोश में आ जाता है, उसके दिमाग में टेन्सन पैदा हो जाता है और वह परेशान होने लगता है।

चाह का मूल आधार है- मन। इसलिए कहा गया है- मन को पलट दो। पलटने का मतलब है, मन का व्यत्यय करो। दूसरे रूप में पलटने का मतलब है, उलटना। और मन का उल्टा करें तो बनेगा- नम। मन के भीतर जो चाह है उसे नमा दो। मन में जो कषाय के भाव आ रहे हैं तो उन्हें नमाते चले जाओ। उन्हें वढ़ने मत दो, यदि उन्हें वढ़ने दिया तो वे खतरनाक वनेंगे, संसार में रुलाने वाले वनेंगे।

भगवती सूत्र के एक प्रसंग में वताया गया है कि- तथा रूपश्रमण माहण की पर्युपासना से क्या लाभ होता है। उसमें अंतिम लाभ के रूप में सिद्धि वतायी गई है। पर उसे वरा कैसे जाय? कवि आनंदघनजी ने इस वात का संकेत दे दिया-

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो..........।

उन्होंने उन्हें अपना प्रीतम मान लिया। प्रीतम के साथ आगे कह दिया 'कंत'। जिसे स्वामी के रूप में मान लिया उसके प्रति अपनत्व की विशिष्ट भावना बन जाती है। एक शीलवती पतिपरायण पत्नी पति के प्रति पूर्णतः समर्पित होती है। अंजना को पवनजी विवाह करके लाये। लाने के बाद प्रथम रात्रि में ही उसका परित्याग कर दिया। क्यों कर दिया? उन्होंने उसका एक वाक्य सुन लिया। पूर्वापरसंबंध का विचार नहीं किया, अर्थ-विन्यास नहीं किया, उसके भावों को नहीं जाना। आधी-अधूरी बात पकड़ ली और बारह वर्ष तक उसे पकड़े रहे। उस दौरान कई बहिनों ने कहा भी-बहिन! देखो तुम जैसी शीलवती को कष्ट दिया, क्या पुरुषों का यही कर्तव्य है? कैसे-कैसे कष्ट देते हैं ये। परन्तु अंजना ने यही कहा- "तुम मेरी सहेली हो, हितैषी हो, ऐसी बातें मेरे सामने मत कहो। जो-कुछ हैं, वे मेरे स्वामी हैं। उनकी कोई गलती नहीं। मेरे ही जीवन में कोई त्रुटि है, उस कारण यह सारी स्थिति बनी है। समर्पण का कैसा अद्भुत रूप है। एक पत्नी का पति के प्रति जैसा प्रेम यह है, क्या भक्त का भगवान् के प्रति वैसा प्रेम होता है? आज की स्थिति तो यह है कि इधर तो भगवान का नाम और दूसरी ओर उलझन की स्थिति।। उस समय सामायिक भी याद रहेगी या नहीं?

अर्हनक श्रावक की कथा मैं बहुत बार कहता हूं। उसके जलपोत को देव ने दो अंगुलियों पर उठा लिया और कहा- "केवल एक बार अपने व्रत नियमों को तोड़ दो केवल एक बार तोड़ देगा तो। मैं यह जलपोत वापस नीचे रख दूंगा, नहीं तो ऊपर से नीचे गिरा दूंगा। नीचे गिरते ही तुम्हारा पोत टुकड़े-टुकड़े हो जाएगा। सारा माल-किराना नष्ट हो जाएगा। जितने यात्री हैं, वे सारे समुद्र में समाधि ले लेंगे। अर्हनक को सलाह देने वाले भी वहां मिल गये- "आपत्ति काले मर्यादा नास्ति। फिर आलोचना कर लेना।" आज भी ऐसी सलाह देने वालों का अभाव नहीं है। किन्तु अर्हनक का रोम-रोम श्रद्धाभिभूत था। उसके जीवन में धर्म उतरा हुआ था। वह केवल नाम का स्मरण करने वाला नहीं था। नाम का स्मरण करने वाला केवल नाम का स्मरण करता है, और उतने से ही संतुष्ट हो जाता है, श्रद्धा-अश्रद्धा की बात नहीं सोचता।

मोतीलाल सेठ की दो सेठानियां थी- लौड़ीजी और बड़ीजी। बड़ीजी बड़ी गादी बिछाकर, बड़ी माला लेकर सेठजी के नाम की माला फेरा करती थी। और लौड़ीजी जो सारे घर का काम करती थी और सेवा-शुश्रूषा भी करती थी।

सेठजी बाहर से आये, दरवाजा खटखटाने लगे तो बड़ीजी ने कहा- ठहरो-ठहरो, अभी थांका नाम की माला फेर रही हूं। वह पूरी हो जाय, फिर दरवाजा खोलूंगी। अभी विघ्न मत डालो। लौड़ीजी ने आवाज सुनी तो दौड़कर आई, दरवाजा खोला, अंदर लाकर बिठाया, ठंडा पानी पिलाया, पैर दबाये। सेठजी अब किस पर प्रसन्न होंगे? यह निर्णय तो आप स्वयं कर सकते हैं। बड़ीजी सेठानी कहती रहे कि मैं तो आपके नाम की कितनी ही माला फेरती हूं। परन्तु क्या यह समर्पित प्रेम-भाव हुआ? इसी प्रकार नाम का स्मरण करने वाले तो बहुत मिलेंगे पर यथार्थ में भगवान् को जीवन में रमाने वाले कितने मिलेंगे? बहुत कम।

भक्त के लिए कहा है कि उसे केवल भक्ति में रहना चाहिए, उसका ध्यान दूसरी तरफ जाना ही नहीं चाहिये। किसी ने मेरे से पूछा- श्रद्धा कैसी होनी चाहिये? मैंने कहा- अंधी होनी चाहिये। आप मानेंगे नहीं। आप कहेंगे अंधश्रद्धा ठीक नहीं। अंधश्रद्धा अलग है, और अंधीश्रद्धा अलग। जानलिया, पहचान जिया फिर श्रद्धा की है फिर इधर-उधर देखने-झांकने की बात नहीं। हृदय श्रद्धा का मुख्य केन्द्र है। हृदय चारों तरफ से पैक है। बताइये, हृदय खुला है या बंद? उसमें खून की नलिकाएं लगी हैं जिनके द्वारा ब्लड सर्कुलेशन होता है। उसमें छेद नहीं है। यदि छेद हो जाय तो श्वास फूलने लगेगा। शरीर कार्य नहीं कर पाएगा और ऑपरेशन करवाना पड़ेगा। वाल्व में छेद हो जाय तो वह उसे चलने नहीं देता। वैसे ही धर्मश्रद्धा में एक छिद्र हो जाये तो वह पार पहुंचाने वाली नहीं रहेगी। वही श्रद्धा श्रेष्ठ है जिसमें छिद्र नहीं है। इसलिए कहा है कि- श्रद्धा में आंख नहीं होनी चाहिये। यदि आंख होगी तो इधर-उधर देखेंगे, झांकेंगे तो फिर भीतर की स्थिति डावांडोल हो जायेगी। ऐसी जर्जरित श्रद्धा सिद्धि तक नहीं पहुंचा सकती। सिद्धि के लिए श्रद्धा आवश्यक है। सिद्धि मिले या न मिले, पर श्रद्धा मजबूत बना ली तो फिर सिद्धि दौड़ी आएगी। किन्तु उसमे होनी चाहिए दृढ़ता। जैसे यान की यात्रा के लिए रिजर्वेशन टिकट की आवश्यकता होती है वैसे ही सिद्धि के लिए रिजर्वेशन टिकट की जरूरत है। रिजर्वेशन है- कृष्ण पाक्षिक से शुक्ल पाक्षिक हो जाये। उसके बाद टिकट है श्रद्धा का। वह मिल गया, हमारा यान मजबूत है। तभी वह समुद्र के थपेड़े सह पायेगा और यदि किसी कागज की नाव बना कर समुद्र में छोड़ दी है तो वह कितनी दूरी तक आगे बढ़ाएगी विचार कीजिये। वैसे तो श्रद्धा नाम से न हो। जब अर्हनक के सामने प्रसंग आया तो उसने बता दिया कि श्रद्धा कैसी होनी चाहिए। लोगों ने

कहा– देव ने एक बार, दो बार, तीन बार कहा- "तोड़ दे, नहीं तो अभी गिराता हूं।" अर्हनक ने कहा- देव! तिराता है तो धर्म ही, रक्षक है तो धर्म ही। धर्म रक्षा न करे तो अधर्म तो कर ही नहीं सकता।" अधर्म से तिरना संभव नहीं है। है हमारी इतनी श्रद्धा? हैं इतना विश्वास है, इतनी समर्पणा?

एक बार असम में आंदोलन चला। वहां जो कछार जिले में रहने वाले हैं उनकी भाषा बंगला है और सरकार चाहती थी कि पूरे असम में असमी भाषा में ही कार्य हो। तब उन्होंने आंदोलन छेड़ा, जिसमे एक नारा था-

"रक्तो दीवो, जान दीवो, भाषा दीवो ना।"

वे भाषा देने को तैयार नहीं और यहां पर क्या होगा? धर्म भी देना हो तो दे देंगे, पर मुझे छोड़ दे। हमारे भीतर धर्म के प्रति कितना लगाव है? हम सुनते हैं तो सोचते हैं, यह तो दंतकथा होगी। अरे! दंत कथा क्या है। पहले वैसा आचरण करके तो देखिये फिर भले ही संकट में निर्भय होकर बैठ जाइये। लेकिन हम तो पहले ही प्रकंपित होने लगते हैं। ऐसी स्थिति में जहां श्रद्धा ही नहीं रहेगी तो सिद्धि कैसे मिलगी? सिद्धि के लिए पहले चाहिये श्रद्धा, फिर साधना और फिर मिलेगी सिद्धि।

"श्रद्धा रूपी नींवं मजबूत होगी तो उस पर साधना का भवन बनेगा, तब कहीं जाकर सिद्धि का कलश चढ़ा पाएंगें।" अतः पहले श्रद्धा को टटोलें कि वह कैसी है। भगवान् ने श्रद्धान के चार बोल बताये हैं-

परमत्थसंथवो वा सुदिट्ठ परमत्थ सेवाणा वावि
वावण्ण कुदंसण वज्जणा य सम्मत्त सद्दहणा॥

परमार्थ का परिचय करें, परमार्थ ज्ञाता की सेवा करें तो उससे श्रद्धा प्रगाढ़ बनेगी। किन्तु कुदर्शनियों से या जिसने धर्म का वमन कर दिया है उससे संसर्ग किया तो क्या श्रद्धा डिग नहीं जायेगी?

जिसने धर्म का वमन किया है उस व्यक्ति से बात नहीं करें। क्योंकि उसमें धर्म के प्रति द्वेष का दावानल सुलग रहा होता है, वह धर्म के विरुद्ध बात करेगा। उन बातों को सुनते-सुनते वैसे संस्कार भी पड़ सकते हैं क्योंकि कहा भी है-

"संसर्गजा दोष गुणा भवन्ति"

अर्थात् संसर्ग से दोष व गुणों का प्रसंग बनता है। वैसे ही तुम्हारे कानों में धर्म से विपरीत बातें आती रहेंगी तो मन पर संस्कार पड़ेंगे और कभी जैसे हार्ट के वाल्व में छिद्र होता है वैसे ही श्रद्धा में छिद्र हो गया और वह बड़ा होता

गया तो ले डूबेगा, श्रद्धाच्युत कर देगा। आज संसार में सम्यक्दर्शन लेकर जितने लोग चल रहे हैं उनसे अनंतगुणा वमन करने वाले हैं। जिन्होंने एक बार, दो बार, दस बार नहीं, कई बार श्रद्धारूपी वाल्व में छिद्र कर लिये, वैसे व्यापन दृष्टि वालों से संसर्ग किया तो श्रद्धा से च्युत हो जायेंगे, श्रद्धा हिलने लगेगी। यदि नींवं ही हिल गई तो मकान कहां रहेगा?

भगवान महावीर का नयसार के भव से प्रारंभ हुआ, फिर कितनी ऊंचाईयां चढ़ी और गिरे तो कहां से कहां गिरते चले गये? तीर्थंकर की आत्मा के साथ भी ऐसा संभव है, असंभव नहीं। वैसे ही हमारी आत्मा सर्वार्थ सिद्ध विमान के क्षेत्र तक, लोक के सिरे तक पहुंच गई पर फिर नीचे गिर गई। बंधुओ! इतना सुनकर मनन करना है। जब सौभाग्य मिला है मनुष्य-तन का और वीतराग-वाणी का तो श्रद्धा को मजबूत करना है, तभी कल्याण का मार्ग प्राप्त होगा। अर्हनक ने कहा- मैं किसी हालत में वैसा नहीं कर सकता। तब देव ने भी कहा- मैंने जैसा तुम्हारे बारे में सुना था, तुम्हें वैसा ही पाया। उसने धीरे-से जहाज को नीचे रख दिया और दो कुण्डल उपहार में दे दिये फिर परिक्रमा करके, नमस्कार किया। आप किन्हें नमस्कार करते हैं? आप तो कहते हैं- मेरा ये काम हो जाये तो पांच रुपये का प्रसाद चढ़ाऊंगा। यह तो सौदा है। सौदे से सिद्धि नहीं मिलती। सिद्धि उसे मिलती है जिसका मन सदा धर्म में रहता है। वही सिद्धि तक पहुंचता है। अतः नींवं मजबूत करो। क्रिया से अक्रिया में पहुंच कर सिद्धि तक पहुंच सकते है। जो हमारा शाश्वत धाम है उसकी ही प्राप्ति का लक्ष्य रखो और साधना में प्रवृत्त हों तो यह दुर्लभ मानव-भव सार्थक हो जाये।

❑❑

निज स्वरूप कैसे प्राप्त करें

ऋषभ जिनेश्वर प्रीतम म्हारो...

तीर्थंकर देव प्रभु महावीर ने आत्म-साधकों को चातुर्मास में एक स्थान पर रुकने का निर्देश दिया है। उसके पीछे क्या कारण है? चातुर्मास में एक स्थान पर रुकें, शेषकाल में जैसे विचरण करते हैं, वैसा चातुर्मास में नहीं करें। क्यों? ऐसे अनेक प्रश्न उपस्थित होते हैं।

चातुर्मास में एक स्थान पर रहें- यह कल्प है, मर्यादा है। उसका ज्ञान कई श्रावक रखते हैं पर कई-कई इसका बोध नहीं रखते। इस प्रकार की जानकारी देने का इसलिये प्रसंग भी रहता है। कल चातुर्मासिक पक्खी है। कल संध्या-प्रतिक्रमण के बाद वह स्थान चातुर्मास का बन जाया करता है। ७ कि. मी. का क्षेत्र चातुर्मास में खुला रहता है। यह स्थिति कल्पमर्यादा की दृष्टि से है और उसका दिवस कल से प्रारंभ होता है। हालांकि कल का दिन खुला है और प्रतिक्रमण से पूर्व उससे दूर क्षेत्र में भी जाया-आया जा सकता है, पर प्रतिक्रमण के पश्चात् उससे बाहर गमनागमन का निषेध है। श्रावकवर्ग भी चातुर्मास में धर्म-आराधना में जुटा रहता है। वह चाहता है कि वह भी कुछ लाभ प्राप्त करे। आज हमें पहले तो कल की तैयारी करनी है और फिर यह संकेत लेना है कि आगे क्या करना है। कुछ करने की आवश्यकता नहीं है, यदि हमने निज-स्वरूप की पहचान कर ली है तो। इसलिए निज-स्वरूप-प्राप्ति का लक्ष्य बनायें। यह समझने का प्रयास करें कि मैं कौन हूं और कहां से आया हूं?

हूं कौण छुं क्यां थी थयो, सुं स्वरूप छे म्हारो खरो...।

मैं कौन हूं, और मेरा क्या स्वरूप है, यह चिन्तन प्रायः प्रतिदिन होना चाहिए। अब तक यदि ऐसा चिन्तन नहीं बना है तो अब उसके लिए तैयारी करें। हम ज्ञान भी करें और वांचनी भी लेवें, पर मूल में देखें कि निज-स्वरूप-प्राप्ति की तरफ कदम बढ़ रहे हैं या नहीं? हम स्वभाव में प्रवेश पाने

की तैयारी में हैं या नहीं? अवरोधक कषाय भीतर प्रवेश में बाधक तो नहीं बन रहे हैं? क्योंकि इन कषायों ने आत्मा को चारों तरफ से आच्छादित कर रखा है। आत्मा के प्रत्येक प्रदेश को ये कषाय आच्छादित किये हुए हैं, अन्यथा क्या कारण है कि हम आत्मा में प्रवेश नहीं पा रहे हैं या यों कहूं, आत्म-स्वरूप प्रकट नहीं कर पा रहे हैं। आत्मा कषायों से एक तरफ से ही नहीं घिरी है, बल्कि आत्मा के अणु-अणु में कषाय भरे हैं। क्यों भरे हैं, कैसे भरे हैं, यह आप देख सकते हैं।

किसी ने जरा-सी ठोकर लगा दी, चांटा लगा दिया, कठोर वचन कह दिये तो गुस्सा आ जाता है। यदि ऐसा है तो इसका तात्पर्य है कि कषाय पूरे आत्म-प्रदेशों में भरा है। इसलिये जहां भी चोट लगती है वहां से कषाय निकलता है। लोहे पर हथौड़े की चोट करें तो लोहे की आवाज निकलती है। लकड़ी पर चोट करें तो लोहे की आवाज नहीं आएगी। जहां भी टकराहट होती है, वहीं क्रोध फुफकारने लगता है। इसका मतलब है कि कषाय अणु-अणु में हैं। जब तक इन्हें दूर करने का प्रयत्न नहीं किया जाता और उन्हें दूर नहीं कर दिया जाता तब तक अपने स्वरूप को प्राप्त कैसे करेंगे? विचार करें कि घी-तेल की दूकान में निरन्तर बैठने वाला व्यक्ति प्रतिदिन अपने वस्त्रों को धो लेता है तब तो वस्त्रों की मूल अवस्था का उसे बोध होता रहता है, किन्तु यदि निरन्तर ६ माह तक वह धोये ही नहीं और घी-तेल लगता ही जाय और फिर ६ माह बाद धो भी लिया जाय तो क्या उनका मूल रंग आ जाएगा? जैसे यह संभव नहीं है वैसे ही यह भी संभव नहीं कि यदि साल-भर में एक बार संवत्सरी को उन्हें धो लें तो मूल रंग आ जाएगा। तब चाहे कितना ही कास्टिक सोडा, सर्फ, साबुन आदि डाल दें तो भी कुछ नहीं होगा। पहले ३-४ बार धोलें तो संभव है कि कुछ रंग आ जाए। चातुर्मास में संवत्सरी से पूर्व लगभग डेढ़ माह या ४६ दिन का समय रहता है। तब भी यदि प्रतिदिन धोते रहें तो वह निश्चित रूप से साफ हो जायेगा और संवत्सरी के दिन तो जगमगा उठेगा। इतना भी यदि न कर सके और ७-७ दिन में भी धोते रहें तो भी वह कितनी ही बार धुल जायेगा और मूल रंग कुछ सीमा तक आ जायेगा। यदि कोई सोचे कि केवल संवत्सरी को ही प्रतिक्रमण करना है, तो ठीक है कर लो पर प्रतिक्रमण में क्या हो रहा है, पता ही नहीं चलेगा। मिच्छामि दुक्कड़ं भी दे पायेंगे या नहीं, पता नहीं। कुछ समय बैठकर अनुमोदना में सहभागी भले बन जायेंगे। और ५० दिन नियमित रूप से कर

लिया तो एक-एक शब्द से आप परिचित हो सकते हैं क्योंकि आप में भी प्रबुद्धता है, संवेदनशीलता है। ५० दिन में स्वयं याद कर लें, अर्थ प्राप्त कर लें, फिर संवत्सरी को प्रतिक्रमण करेंगे तो लगेगा कि किताब खोल कर देख रहे हैं। तब अंतर में ग्रहण कर मिच्छामि दुक्कड़ं दे पायेंगे। अंदर की चादर को गरम पानी में उबाल पायेंगे। जैसे सोडेयुक्त गरम पानी में मैले कपड़े को उबालने से वह पानी उसके अणु-अणु में पहुंच कर मैल को काट देता है, वैसे ही संवत्सरी को प्रतिक्रमण किया तो वह आत्म-प्रदेशों के अणु-अणु तक पहुंचेगा, आत्मा से उसका संबंध जुड़ेगा। आत्म-प्रदेशों में वह ध्वनि पहुंची तो वहां रहे हुए कषाय स्वतः ही क्षीण हो जायेंगे। इस प्रकार वैर-वैमनस्य दूर होगा और हम आत्म-स्वरूप-प्राप्ति की दिशा में कदम बढ़ा पाएंगे। प्रतिक्रमण के पांचवें आवश्यक में कायोत्सर्ग किया जाता है उसमें ध्यान में उतरने का प्रयत्न होता है, जो निजस्वरूप को प्राप्त कराने वाला है। वैसे तो ध्यान अपनी अंतर की स्थिति से जुड़ा है पर उसे जाग्रत् करने का माध्यम भी बनाना पड़ता है। यद्यपि भगवान् महावीर ने कहा है कि हम बैठे हुए भी ध्यान कर सकते हैं, पर पहले वैसी मानसिकता तो बने। यदि वह बन गई तो फिर अलग से करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर आप चल रहे हैं, बैठे हैं, सो रहे हैं तो भी स्वतः ही ध्यान हो जाता है।

भगवान् ने ईर्या समिति का संकेत किया है। ईर्या समिति का तात्पर्य सिर्फ गमन नहीं है। गमनागमन तो आप भी करते हैं किन्तु उसके पीछे जो संकेत दिया है- वह है **''तम्मुत्ती तप्पुरक्कारे।''** सारी क्रियाओं से हटकर यदि उसी में तन्मय हो जायें तो वह ध्यान उपस्थित कराती है। अलग से करने की आवश्यकता ही नहीं है। फिर बोल रहे हो तो भी ध्यान, खा रहे हो तो भी ध्यान, सो रहे हो तो भी ध्यान। लेकिन ऐसा कब होगा? तब, जब जीवन को हम उस रूप में ढाल लें। अभी हम ढालना ही नहीं चाहते। भगवान् ने सूत्र दिया है-

जयं चरे, जयं चिट्ठे, जयमासे, जयं सए।

पर पहले समझें यतना क्या है, उसे समझ लिया तो फिर समझने के लिये बाकी कुछ नहीं रह जायेगा। उसे ही समझना है, ताकि हमारी दिनचर्या ही ध्यान बन जाये, उसके साथ एकमेक बन जाये। यह नहीं कि चल रहे हैं, चलते हुए बात तो नहीं करना किन्तु थोकड़े चितारें तो क्या हर्ज है? तो भगवान् कहते

हैं- वह ईर्या समिति की आराधना नहीं है। उसमें न तो भजन करना होता है, न स्वाध्याय या नीति का श्लोक ही याद करना होता है। यदि भजन, स्वाध्याय या अन्य कुछ किया जाता है तो भगवान् कहते हैं वह ईर्या, समिती की स्थिति नहीं वह केवल गमन क्रिया है। वही करना है तो बात अलग है। समय के अनुसार ये बातें आ सकती हैं । कषायों को क्षीण करने का लक्ष्य बने ताकि हम निज-स्वरूप की प्राप्ति की दिशा में कदम बढ़ा सकें।

यह बात भी हम भली प्रकार समझ लें कि निज-स्वरूप की प्राप्ति की दिशा में गमन की क्रिया ही अध्यात्म है। 'अधि' एक उपसर्ग है जिसका अर्थ होता है 'संबधी या 'विषय का'। जब यह उपसर्ग आत्मा के साथ जुड़ जाता है तब 'आत्मा के संबंध' के अर्थ का द्योतक बन जाता है। मुश्किल यह है कि हम अध्यात्म को कोई गूढ़ विषय मान लेते हैं जबकि ऐसा है नहीं। वास्तव में तो जो कुछ आत्मा से जुड़ जाता है या आत्मा से संबंधित हो जाता है, वह आध्यात्मिक हो जाता हैं। हम अपनी आत्मा से ज्ञान, चिन्तन, दृष्टि या विचारों को जोड़ें, तो हम आध्यात्मिक बन जायेंगे। यह जुड़ना कैसे होगा? निज-स्वरूप के चिन्तन उसकी पहचान तथा उसमें रम जाने अथवा खो जाने की क्रिया के द्वारा। यह कोई कठिन कार्य नहीं है, पर हम ऐसा करने से घबराते हैं क्योंकि यह स्वयं को आईना अथवा दर्पण दिखाने जैसा कार्य होता है। दर्पण तो हमें हमारे रूप की वास्तविकता दिखा देगा। यदि वह असुन्दर है या उस पर कषायों का मैल है तो हमें इसका भी एहसास करा देगा। हम यह भी जानते हैं कि कोई अपने को कुरूप या गन्दा देखना या वैसा स्वीकार करना पसंद नहीं करता। दर्पण में तो सभी अपने आपको सुन्दर देखना पसंद करते हैं। आपने उस अहंकारी रानी की कहानी पढ़ी होगी जो प्रतिदिन अपने दर्पण से पूछा करती थी-"दर्पण-दर्पण बता, सबसे सुन्दर कौन है?" और यही उत्तर सुनना चाहती थी- "सबसे सुन्दर तुम स्वयं ही हो।" सोचिये, कहीं ऐसा आपके साथ भी तो नहीं है?

आप जानते हैं कि जिससे आपका संवंध जुड़ जाता है वह आपको सर्वप्रिय हो जाता है। हर मां को अपना वच्चा सवसे सुन्दर लगता है भले ही वह कितना ही कुरूप क्यों न हो। यही वात हमारे साथ भी है। परन्तु जव हमें अपनी कुरूपता का एहसास हो जाता है तव हमें असहनीय पीड़ा होती है और हम तुरन्त कुरूपता के निवारण में लग जाते हैं ताकि हम सुन्दर दिखाई देने

लगें। बस "आत्म-स्वरूप" की प्राप्ति की दिशा में कदम बढ़ाने का भी यही मतलब है। हम अपने निज-स्वरूप का निर्मल दर्पण में, जो वास्तव में हमारा निर्मल मन है, अवलोकन करें और अपने स्वरूप की वास्तविक स्थिति को पहिचानें। जब हम ऐसा करेंगे तब निश्चित रूप से हमें अपनी आत्मा को आच्छादित करने वाले कषायों के दर्शन हो जायेंगे। तब अपने आत्म-स्वरूप की मलिनता अथवा कुरूपता का भी हमें एहसास हो जायेगा। तभी हम उस मलिनता अथवा कुंरूपता को हटाने के प्रसास में गंभीरता से प्रवृत्त होंगे। हम अपने-आप को सुन्दर दिखाने के लिये कृतसंकल्प होंगे तो निश्चित रूप से कषायों को हटा कर निर्मल आत्म-स्वरूप को प्रकट करने की दिशा में भी सक्रिय हो जायेंगे। बस, यही तो अपेक्षित एवं आवश्यक है। यही तो किया जाना था, जो हम नहीं कर रहे थे या करने से बच रहे थे क्योंकि कहीं हमारे मन में कुरूपता के चिपके होने का भय था। परन्तु जब निर्णय लेकर, संकल्पित होकर हम निज-स्वरूप के सत्य को जानने की दिशा में बढ़ेंगे तो अगला कदम उस पर लिपटे कषायों को हटाने का ही होग। बस, बात संकल्प लेकर सत्य को जानने की दिशा में बढ़ने की, यतनापूर्वक बढ़ने की और लगातार बढ़ने की है। जैसे कपड़े पर लगने वाली चिकनाई, गंदगी या मैल को प्रतिदिन धोना आवश्यक होता है, अन्यथा कपड़े का मूल रंग मलिन हो जाता है, वैसे ही कषायों को लगातार हटाते रहने की बात भी है। जैसे गर्म पानी में वस्त्र पर लगा मैल सरलता से कट जाता है वैसे ही तप की गर्मी से जब चित्तवृत्तियां तपती हैं तब कषाय भी जल्दी और सुविधापूर्वक कटते हैं और निज-स्वरूप अपने मूल निर्मल रूप में प्रकट हो जाता है। यह कार्य आपको चातुर्मास में करना है। इसमें जितनी सफलता आपको मिलेगी, उतना ही आगे का काम सरल हो जायेगा, निज-स्वरूप की पहचान आप कर पायेंगे और उसे आच्छादित करने वाले कषायों से उसे मुक्त कर शुद्ध-बुद्ध आत्मा को स्वरूप में प्रकट कर पायेंगे। तो संकल्पपूर्वक इस दिशा में बढ़ने का निश्चय आप आज ही कर लें जिससे चातुर्मास का पूरा लाभ आप उठा सकें। चातुर्मास में एक स्थान पर रुके रहने का यह लाभ कम नहीं है, यह समझ लें।

❑❑

आत्मा की सुरक्षा की विधि

मानव स्वभाव का यह परम सत्य है कि प्रत्येक व्यक्ति स्वयं की सुरक्षा चाहता है। कोई भी नहीं चाहता है कि उसका जीवन असुरक्षित हो। कोई उसे धक्का दे दे, उसका एक्सीडेन्ट हो जाए, कोई उसकी हत्या कर दे, ऐसे भाव किसी के नहीं होते। सब अपनी सुरक्षा चाहते हैं और सुरक्षा के लिए हर संभव उपाय भी करते हैं। लोग अपने घरों में चौकीदार रखते हैं और व्यक्तिगत सुरक्षा के लिये बाडीगार्ड रखते हैं, पर सावधान रहिये और सुनिश्चित कीजिये कि आपके चौकीदार सही हो, बॉडीगार्ड भी ईमानदार हैं। कहीं ऐसा न हो कि बाड़ ही उठकर खेत को खाने लग जाय। श्रीमती इन्दिरा गांधी के लिए बॉडीगार्ड तैनात थे, किन्तु जो सुरक्षाकर्मी थे वे ही सुरक्षा के लिये खतरा पैदा करने वाले बन गए थे। आप विचार करेंगे कि आज चातुर्मासिक चौदस है, ये बातें कहां से आ गईं? ये बातें संदर्भ के रूप में हैं, बाहर की बाते हैं, पर आप बाहर की व्यवस्था से बहुत परिचित हैं, उसी के आधार पर मैं आपको अंतरंग व्यवस्था में ले जाना चाहता हूं।

विचार करिये, आपने अपनी सुरक्षा का भार किसे सौंपा है, अधिकांश व्यक्तियों ने अपना भार अहंकार को सौंप रखा है। वे सोचते हैं, अहंकार उनकी सुरक्षा करेगा। पर ऐसा नहीं है। कोई भी पल धोखा दे सकता है। हम कभी भी ठगे जा सकते हैं। क्योंकि अहंकार के तो स्वयं के पैर ही मजबूत नहीं होते। वह तो स्वयं बैसाखी के सहारे चलने वाला है। वह हमारी क्या रक्षा करेगा! क्रोध उसकी बैसाखी है, उस पर चढ़कर वह गर्जना करता है। वह भला क्या सुरक्षा करेगा! अतः भुलावे में मत रहना। आप आत्मा की सुरक्षा चाहते हैं तो ऐसे सुरक्षा गार्ड खड़े करिये जो आत्मा की सुरक्षा कर सकें। ऐसे सुरक्षा गार्ड हैं- क्षमा, मृदुता, सरलता जैसे गुण। यदि आपने क्षमा को अपना वॉडीगार्ड चुन लिया, मधुर स्वभाव को रक्षा का भार सौंप दिया, तो किसी भी हालत में आत्मा को खतरा हो नहीं सकता। क्रोध आत्मा को खिला सकता है, अहं मदमस्त वना

सकता है। थोड़ी देर के लिए आपसे बोल लेगा। जैसे किसी के पास पैसा है और वह लुटाने लगे तो बीस-पच्चीस लोग आस-पास खड़े हो जायेंगे, पर कल जब पैसा समाप्त हो जाय कितने लोग उसके पास आएंगे? तब तो परिवार वाले भी पास से खिसक जाएंगे उसका कोई सगा-साथी नहीं बनेगा। कहा भी है-

मात कहे मेरा पूत सपूत, बहिन कहे मेरा भैया।
घर की जोरू यों कहे, सबसे बड़ा रुपैया।

पैसे के आधार पर ही सारे नजदीक के संवंध वनते हैं। आज आप देख लीजिये, कोई व्यक्ति चुनाव में जीता, मंत्री वन गया तो वीसों व्यक्ति उसे घेरे रहेंगे पर जिस समय वह पद से वरखास्त हो जायेगा तव कितने लोग उसके समीप रहेंगे? ऐसा ही अहंकार से साथ होता है। जव तक अहंकार का लालन-पालन होगा, उसे चूर्ण-चटनी दी जायेगी तव तक जैसे कुत्ता रोटी खाकर दुम हिलाता है वैसे ही अहंकार भी निकट रह कर दुम हिलाता रहेगा, पर जैसे ही आपका "विल पॉवर" नार्मल हुआ, चित्त ठंडा हुआ तो अहंकार की चल नहीं पाएगी वह शिथिल पड़ जाएगा। जो अहंकार आपका जवानी में चल रहा था, क्या आज चलने वाला है क्या? वह अपने आप ठंडा पड़ गया है। इसलिए ऐसे के हाथ सुरक्षा सौंपिये जो सव रक्षा कर सके। कवि कहते हैं- मैं तो परमात्मा को ही अपना भार सौंपता हूं।

सूर्य भानु है शरण तुम्हारी
प्रभु मेरी करना रखवारी...।

पर क्या है [illegible] कि कोई परमात्मा को बॉडीगार्ड बना सके? चौकीदारी के लिए [illegible] वैदिक संस्कृति में बताया है कि जव वलि विचलित [illegible] तुम्हारी भक्ति से खुश हूं, [illegible] कि जव तक मैं [illegible] वैदिक संस्कृति में [illegible] उल्लेख है। जैसा [illegible] कहां करते हैं? तो [illegible]

[illegible]
[illegible]
[illegible]
[illegible]

इनकी शरण की क्या आवश्यकता हैं, जब ये कुछ करते ही नहीं? जो रक्षा नहीं कर सकते, उनकी शरण स्वीकार करने की क्या उपयोगिता है? पर ऐसा नहीं है।

निश्चित है कि परमात्मा हमारी रक्षा करते हैं। उनकी करुणा निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। पर उसे झेलने की हमारी क्षमता कितनी है, यह भी तो देखें। यदि हमने अपने भीतर वैसी क्षमता बना ली है, तब उस करुणा को झेल पाएंगे, नहीं बनाई है तो झेल भी नहीं पाएंगे। नल के नीचे पानी बह रहा है, पर हमने यदि अपने घड़े पर औंधी कटोरी रख रखी है तो नल भले ही घंटों चलता रहे, घड़ा भरने वाला नहीं है। वैसे ही, हमने अरिहंत, सिद्ध, केवली प्ररूपित धर्म की शरण ग्रहण कर ली और वहां से भरपूर करुणा भी निर्झरित हो रही है, पर हमने तो ढक्कन बंद कर रखा है या घड़े को औंधा रख रखा है तो वह करुणा झेल नहीं पाएंगा, सुरक्षा नहीं कर पायेगा। आपने सुना है कि शूली का सिंहासन हो गया था, ज्वाला शीतल हो गई थी। कैसे हो गई थी? ऐसा किसने कर दिया था? इसका कोई उत्तर नहीं है। श्रीमती घड़े में हाथ ड़ालती हैं तो सर्प फूलमाला बन गया और वहीं सासू देखती है तो वहां काला नाग फुफकार रहा था। कौन है, यह सब करने वाला? यह सुरक्षा कहां से हो गई? यदि आपने अपने-आप को परमात्मा की शरण में समर्पित कर दिया है तो यह सुरक्षा आपको भी प्राप्त हो सकती है, किन्तु लोग स्वयं को समर्पित करते कहां हैं? हम परमात्मा को ठगते हैं, परमात्मा को चाबी पकड़ाते हैं, पर गलत। सही चाबी तो खुद पकड़े रहते हैं। नकली पकड़ा देते हैं, कुछ-न-कुछ बचा लेते हैं। जब तक परमात्मा से कुछ बचा कर रखेंगे तब तक आप-अपने आप को ठगेंगे।

आज चातुर्मासिक पंक्खी है। आज प्रतिक्रमण के पश्वात् उस क्षेत्र में साधु प्रतिबंधित हो जायेंगे। उसके बाद बाहर के क्षेत्र में गमनागमन नहीं कर पाएंगे, यह कल्प है। वैसे तो स्थाविर कल्प है, व्यवस्था है। भगवान् ने साधु-साध्वी के आचरण हेतु दस कल्प वताये हैं उनमें एक कल्प चातुर्मासिक कल्प भी है। इसका तात्पर्य है कि चातुर्मासिक पक्खी के दिन जहां प्रतिक्रमण किया, वहां चातुर्मास की स्थापना हो गई। फिर उसी क्षेत्र में रहने की स्थिति बनती है। अपवाद अलग होते हैं। अपवाद की स्थिति वने तो चातुर्मास में भी विहार हो सकता है, निपेध नहीं है। कैसे क्षेत्र में चातुर्मास करना, इसका भी संकेत प्राप्त होता है। तेरह प्रकार की जोगवाई उपलव्ध हो, वहां चातुर्मास

करना। यथा जहां कीचड़ कम हो, बेइन्द्रिय जीवों की स्थितियां ज्यादा न हों, स्थान भय-रहित हो, उच्चार आदि की व्यवस्था हो, दूध-दही की पर्याप्त सुविधा हो, वैद्य-औषधी सुलभ हो, श्रावक निश्चल हों, वहां के राणाजी (अधिकारी वर्ग) सुलभ हों, पाखंडियों का अधिक जोर न हो, जहां थोड़ा-सा विचरण करने पर भिक्षा सुलभ हो, इसके साथ ही स्थण्डिल आदि परठने-परठाने की भूमि, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव आदि १३ बोल प्राप्त हों।

विचार होगा कि दूध-दही की मोकलाईश हो, क्या साधु को दूध-दही चाहिये? ऐसी बात नहीं है। किन्तु जहां शरीर की स्थिति है, बीमारी का उपचार करवाना पड़े, तो पथ्य-परहेज की दृष्टि से सुविधा से ऐसी वस्तुएं उपलब्ध हो सकें। साथ ही यदि वहां संपन्न परिवारों की स्थिति होगी तो इलाज आदि की दृष्टि से सुविधा रहेगी। उत्सर्ग और अपवाद-ये दो मार्ग हैं। उत्सर्ग में इलाज नहीं, पर जहां अपवाद है, चार महीने में एक स्थान पर रहते शरीर बीमारी से ग्रस्त हो जाये और उपचार का योग न बैठे तो चार माह कैसे व्यतीत होंगे?

अधिकारी वर्ग सुलभ न हो या विपरीत हो तो वह येन-केन-प्रकारेण साधु को कष्ट देगा। साधना में कठिनाई उपस्थित करेगा। नये-नये कानून निकालेगा, जिससे साधु जीवन प्रतिबंधित होगा, इसलिए वह सुलभ होना चाहिए। इसके पीछे मूल भावना या भाव यह है कि साधना निश्चल चले, उसमें व्यवधान उपस्थित न हो, अन्यथा साधना धूमिल होगी, सही रीति से चल नहीं पाएगी।

बंधुओ! जिसके लिए पू. माधोमुनिजी ने कहा कि यहां के श्रावक जिनवाणी रसिक हैं, उनकी रसिकता देखते बनती है। एक भाई ने २५ प्रहर का, कइयों ने ६-६ प्रहर के पौषध पचखे हैं और कई ने तो तेरह प्रहर के। पौषध में एक बात ध्यान रखें, उसमें आत्मा का पोषण हो। पूरा दिन स्वाध्याय, ज्ञान-चर्चा, परमार्थ की उपासना में बीते, न कि प्रमाद की उपासना में। प्रमाद के लिए तो कई दिन खुले हैं। कई लोग कहते हैं कि पहले सामायिक पचक्खा दो। कोई अंतर पड़ने वाला नहीं है। पौषध में दिन में सोने का कल्प नहीं है। पौषध में रात्रि में केवल दो प्रहर खुलें हैं। प्रथम में स्वाध्याय - ध्यान करके फिर शरीर के विश्राम के लिये निद्रा से निवृत्त होकर चौथा प्रहर लगते-लगते धर्म की आराधना अनुप्रेक्षापूर्वक की जाय। अभी अधिक क्या जानकारी दूं। चातुर्मास में आगे प्रसंगानुसार सुन पाएंगे।

आज तो सड़क मार्ग बन जाने से साधु-साध्वी सुगमता से पहुंच जाते

हैं, किन्तु प्राचीन युग में मार्ग की पूर्ण जानकारी या सुगमता न होने से कभी भटक जाते थे, निर्धारित क्षेत्र में नहीं पहुंच पाते थे तो बीच में ही चातुर्मास करना पड़ जाता था।

वसन्तपुर नगर में चातुर्मास करने संत जा रहे थे किन्तु वर्षा अधिक होने से पहुंच नहीं पाये। वे एक गांव में पहुंचे, वहीं चातुर्मासिक चौदस का प्रतिक्रमण किया और जानकारी करने पर मालूम हुआ कि केवल एक ही परिवार शाकाहारी था, जो जैन धर्म को जानता था, बाकी परिवार ऐसे थे जिनका आहार-पानी चल नहीं सकता था। संत भिक्षा के लिए पधारे, श्रावक ने उदारतापूर्वक पूरी की पूरी भिक्षा बहरा दी। संत मना करते रहे, वह कहता रहा कि मुझे उपवास पचक्खा दीजिये। प्रतिदिन उनके घर में दो जनों का आहार बनता, ऐसा नहीं कि ज्यादा बना लें, संत को भी बहरा देंगे व हम भी खा लेंगे। यदि संतों का पधारना हो जाता तो वे आहार बहरा देते और स्वयं उपवास कर लेते। इस प्रकार उनके उपवास होता और संतों का आहार हो जाता। जिस दिन संतों का उपवास होता उस दिन वे खुले हो जाते। कभी संतो के बेला होता तो उनके दो दिन खुले रह जाते। चार महीने निकल गये किन्तु कभी भी साधु जीवन में दोष लगाने का काम नहीं किया। आज हम चाहते हैं कि साधु को अच्छी-अच्छी चीजें बहरायें। कहेंगें- जा झट-से बाजार से मिश्री-मावा, बादाम की कतली ले आ। यदि ऐसा किया जाता है तो विशेष लाभ नहीं होगा। ठीक है, पुण्यवानी का बंध हो जाएगा, पर साथ में अल्प आयुष्य का बन्ध हो सकता है। बड़े सेठ के घर जन्म हो जायेगा पर में जल्दी ही रवाना हो जाएंगे।

चार माह व्यतीत होने के पश्चात् संत विहार कर वसन्तपुर नगर में आये। अनेक श्रावक आये। वहां के श्रावक ने बहुत भक्ति-भाव से सेवा की। शिष्य ने कहा- गुरुदेव! ये कितने भक्ति-भाव से सेवा करते हैं। गुरु ने कहा- वैसी नहीं। श्रावक ने यह बात सुनी तो पूछ लिया कि वह ऐसा कौन-सा स्वधर्मी है जिसने और भी अच्छी सेवा की, मैं उसके दर्शन करना चाहता हूं। बात चल ही रही थी। संयोग से वह श्रावक वहां आया हुआ था, ज्ञात हुआ तो दर्शनार्थ चला आया। संत ने बताया, ये ही वे श्रावक हैं। वह सेठ श्रावक को अपने घर ले गया, उनका आतिथ्य किया किन्तु उस श्रावक की मर्यादा थी। त्याग-तप के साथ श्रावक जीवन की आराधना कर रहा था। सेठ ने पूछा- कोई आवश्यकता हो तो कहो। उसने कहा- ऐसी कोई बात नहीं है। सेठ ने कहा- देखिये, मैं

विदेश जा रहा हूं, आप भी साथ चलिये। उसने कहा- मैंने मर्यादा कर रखी है तो उससे आगे बढ़ने की स्थिति नहीं है। सेठ ने कहा- तो आप अपनी कोई चीज दे दीजिये, मैं बेच दूंगा। उसने कहा- और तो मेरे पास कुछ नहीं है, ये चार अनार (दाड़िम) हैं। सेठ ने रख लिये। यथासमय जहाज रवाना हुआ। संयोग की बात, ऐसा तूफान आया कि जिस दिशा में जाना था, जहाज उधर न जाकर अन्य बन्दरगाह की ओर चला गया। वहां के राजा के शरीर में व्याधि थी। वैद्यों ने कहा यदि अनार का शुद्ध रस हो, उसमें औषधि दी जाय तो रोग ठीक हो सकता है। उस देश में तो अनार होते नहीं थे। खोज की गई। उस सेठ के पास अनार उपलब्ध हो गये। पूछा गया- इनकी कीमत क्या है? सेठ ने कहा- मुझे तो मालूम नहीं, आप जो देना चाहो, दे दो। बदले में बहुत-सारी सम्पत्ति उसे दे दी गई। वह सम्पत्ति लेकर वह सेठ अपने नगर पहुंचा और उस श्रावक को देने लगा। उसने कहा, चार दाड़िम की इतनी कीमत नहीं होती, ये पैसे मैं तो नहीं ले सकता। तब उसे सारी हकीकत बताई गई। अंततोगत्वा उसने वह सम्पत्ति रख ली और उसका सदुपयोग करने लगा।

कहने का तात्पर्य यह है कि भले ही कोई कहे कि धर्म का फल भविष्य में मिलेगा, किन्तु उससे पहले धर्म जीवन को शांत-प्रशांत करने वाला बनता है। अतः हम धर्म की आराधना करें कषायों का अल्पीकरण करें और राग-द्वेष को पतला करें। लम्बी तपस्या न हो सके तो कोई बात नहीं, पर राग-द्वेष को पतला करें। ऐसी तपस्या करने वाला वीर बिरला ही होता है। ऐसे प्रसंग भी आ सकते हैं जो उत्तेजना दिलाने वाले हों, किन्तु वे ही हमारी कसौटी होंगे। हम भगवान् महावीर के अनुयायी हैं, हम वीतरागता के निकट पहुंचने के लिए कितने तैयार हैं, इस पर विचार करें। जब क्षमा को हमने अपना भार सौंपा तो फिर कोई कितना ही कहे- हम क्रोधित हो युद्ध नहीं करेंगे, ऐसा सुनिश्चित करें। क्षमा, मृदुता और अक्रोध को जीवन सौंप कर भीतर के दुर्गुणों पर विजय-प्राप्ति का लक्ष्य हमें बनाना है। चार माह तक इन कीड़ों को निकालने का प्रयत्न किया जाय, फिर देखिये कि आत्मा कितनी हलकी और कितनी शांत हो जाती है। जीवन में आनन्द आएगा। यह तो अभ्यास करेंगे तो ही अनुभूति कर पाएंगे। ऐसी हलकी और शान्त आत्मा ही इस लोक और परलोक में सुखी होती है। उत्तराध्यय सूत्र में कहा भी गया है-

अप्पा चेव दमेयव्वो, अप्पा हु खलु दुद्दमो।
अप्पा दन्तो सुही होइ, अस्सिं लोए परत्थ य॥

अर्थात् अपनी आत्मा का ही दमन करना चाहिये क्योंकि आत्मा का दमन ही कठिन है। दमित आत्मा ही इस लोक और परलोक में सुखी होती है। चातुर्मास का यह समय इसी दिशा में अभ्यास करने का है। इस समय आपके मार्गदर्शन के लिये संत भी सहज रूप में उपलब्ध रहते हैं और एक ऐसा वातावरण बना होता है जो लगातार प्रेरणा देता रहता है। यह समय कषायों के अल्पीकरण करने और वृत्तियों के सुधार का है। इस प्रकार जब आप धर्म को अपना रक्षक या बॉडीगार्ड बना लेंगे तब जीवन की यात्रा कितनी सहज और सुखकर हो जायेगी, यह बतलाने की आवश्यकता नहीं है, आप स्वयं जानने का प्रयत्न करें। चातुर्मास में यदि इतना संकल्प भी बन गया तो आपका चातुर्मास सार्थक हो जायेगा। आपको इस दिशा में प्रयास करने हैं।

❑❑

धर्म में पुरुषार्थ की आवश्यकता

तीर्थंकर देवों का शासन दो रूपों में हमारे सामने आता है। एक रूप है प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के शासन-काल का और दूसरा रूप है बीच के २२ तीर्थंकरों के शासन-काल का। केशी गौतम के प्रसंग से स्थिति स्पष्ट होती है। जब केशी श्रमण व गौतम स्वामी, दोनों अपने शिष्य-समुदायों सहित श्रावस्तीपुर नगर में पहुंच गये तब दोनों के शिष्यों ने एक-दूसरे की दिनचर्या में अंतर देखा। उनके मन में विचार आया कि २३वें तीर्थंकर प्रभु पार्श्वनाथ एवं २४वें तीर्थंकर भगवान् महावीर, दोनों ही एक मार्ग की प्ररूपणा करने वाले हैं फिर दोनों की आचरण पद्धतियों में इतना अन्तर क्यों है? दूसरे तीर्थंकर से लेकर तेईसवें तीर्थंकर तक के साधुओं के लिए यह नियम नहीं है कि उन्हें श्वेत वस्त्र ही धारण करने चाहिए किन्तु प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के शासन में निश्चित है कि उन्हें श्वेत वस्त्र ही लेना है, रंगीन वस्त्र का ग्रहण निषिद्ध है, किन्तु बीच के २२ तीर्थंकरों के समय ५ वर्णों में से कोई भी वर्ण ग्रहण किया जा सकता था। इसी प्रकार बीच के २२ तीर्थंकरों के समय ४ महाव्रत-रूप धर्म की और प्रथम व अंतिम तीर्थंकर के समय में ५ महाव्रत-रूप धर्म की प्ररूपणा की गई। बीच के २२ तीर्थंकरों के समय सामयिक चारित्र होता था किन्तु प्रथम व अन्तिम तीर्थंकर के समय में सामयिक चारित्र के बाद छेदोपस्थानीय चारित्र भी होता है जबकि बीच के २२ तीर्थंकरों के समय एकमात्र सामायिक चारित्र ही होता था। एकमात्र से तात्पर्य है कि दीक्षा के रूप में जो प्राप्त हो गया वहीं इतिश्री हो गई। अलग से छेदोपस्थानीय चारित्र की आवश्यकता नहीं थी। सूक्ष्मसंपराय एवं यथाख्यात चारित्र की प्राप्ति होती है। उन्हें ग्रहण कराने की आवश्यकता नहीं, वे अध्यवसायों के आधार पर प्राप्त होते हैं। परिहार विशुद्ध चारित्र की भी व्यवस्था है कि वह स्वीकार किया जाता है पर सूक्ष्मसंपराय एवं यथाख्यात चारित्र, कोई भी शिष्य, गुरु के मुखारविन्द से स्वीकार नहीं करता है किन्तु सामायिक एवं

आये- यहां योग्यता से तात्पर्य है, श्रमण प्रतिक्रमण सूत्रपूर्वक छः निकाय जीवों का ज्ञान हो एवं ५ समिति, ३ गुप्ति का प्रयोग उसके जीवन में रम चुका हो, तो ४ माह या उसके बाद ६ माह की अंतिम सीमा है। इस रूप में छेदोपस्थानीय चारित्र का सामान्य नियम है, किन्तु कभी-कभी इसमें रूपान्तरण भी होता है। वह रूपांतरण सांप्रदायिक नहीं, किन्तु शास्त्रीय धरातल पर होता है कि यदि कोई पूज्य बाद में दीक्षा लेने की स्थिति में हो तो उसका प्रावधान भी रहे। जैसे एक मंत्री ने पूर्व में दीक्षा ले ली और सम्राट् बाद में दीक्षा लेने की स्थिति में हो। चूंकि सम्राट् व्यवहार में बड़े रहे हैं और मंत्री पद की दृष्टि से छोटे हैं तो सम्राट् उनके लिए पूज्य हैं और वे कुछ ही दिन में दीक्षा लेने की स्थिति में हैं तो वैसी स्थिति में बड़ी दीक्षा ६ माह तक रोकी जा सकती है, किन्तु इसके बीच में यदि कोई दूसरी दीक्षा हो जाती है तो उसके साथ उस पूर्वदीक्षित की बड़ी दीक्षा भी सपन्न हो सकती है। दीक्षा की तिथि बड़ी दीक्षा से मानी जाने के कारण जो पूज्य बाद में दीक्षित हुए, वे बड़े माने जाते हैं।

आचार्यदेव पूज्यश्री नानालालजी म.सा. का जब उदयपुर से विहार हुआ और पिपल्या मंडी के वृद्धिचन्दजी को जानकारी मिली कि उनका पुत्र अमरचन्द दीक्षा लेने वाला है तो संतों ने विनोद कर दिया कि अमरचन्दजी दीक्षा लेंगे तो आपको वंदन करना होगा। उनके मन में बात लग गई कि वह दीक्षा ले और उसे मैं वंदन करूं? बस, पहले घर में रहते हुए भी जिन्हें फुर्सत नहीं रहती थी, पर अब उनके भाव बन गये और वे साधु के, अमरचंदजी के लिए जो तैयार किये हुए थे, कपड़े पहन कर आये और गुरुदेव से कहने लगे- "मुझे दीक्षा पचक्खा दो।" गुरुदेव ने फरमाया- परिवार वालों की आज्ञा के बिना मैं नहीं पचक्खा सकता तो उन्होंने स्वयं दीक्षा पचक्ख ली। उस समय तपस्वीराज (श्री बलभद्रमुनिजी म.सा.) की भी दीक्षा नहीं हुई थी। परिवार वाले पहुंचे कि इन्हें समझाइए। गुरुदेव ने फरमाया- संत क्या समझायेंगे? प्रत्याख्यान तोड़ दो? यह हम कह नहीं सकते, यह हमारी मर्यादा है और हम आज्ञा के बिना पचक्खा भी नहीं सकते। आचार्यदेव ने कहा- जब कदम बढ़ा ही लिया है तो तुम्हें भी समझना चाहिये। उन्होंने कहा- वृद्ध अवस्था है। तो आचार्यदेव ने कहा- मैं स्वयं सेवा के लिये तैयार हूं, फिर अमरचंदजी भी दीक्षा लेने की तैयारी में हैं। उन्होंने स्वयं पचक्ख ली थी, बीच में और भी दीक्षाएं हुईं पर बड़ी दीक्षा सभी की साथ में हुई इसलिए वय क्रमानुसार छोटे से बड़े हुए।

बंधुओ! दीक्षा लेने का भाव जगना एक बात है, और अनुमोदन करना दूसरी बात है। किन्तु कई व्यक्ति अनुमोदन के लिए भी तैयार नहीं होते, बल्कि रोक लगाते हैं। कितनी अजीब स्थिति है कि संसार में रहते हुए यदि किसी को दुर्व्यसन लग जाये तो उसे तो रोकने या कुछ कहने का साहस नहीं जुटा पायेंगे। कह भी नहीं सकेंगे कि शराब नहीं पीनी है। घर के सदस्य यदि गुटका आदि खाते हैं और जानते हैं कि ये चीजें स्वास्थ्य को खराब करने वाली हैं, पर यह कहने की हिम्मत नहीं होगी कि ये मत खाओ, पर धर्म की बात में रोक लगाएंगे। संसार में फंसाने की दलाली तो कर लेंगे किन्तु धर्म की दलाली नहीं करेंगे। तब बन्धुओ! यह भी समझ लें कि जो जिसकी दलाली करेगा उसे लाभ भी वैसा ही मिलेगा। कोयले की दलाली में हाथ काले ही होंगे और यदि चंदन की दलाली करेगा तो अनजाने ही हाथ सुगंधित हो जायेंगे। यदि कोई रत्नों की, सोने-चांदी की दलाली करेगा और चाहे, ये चीजें घर में न भी ले जाये तो भी वह लाभ कमायेगा। तो आप कहेंगे कैसे? तो इसे समझिये।

आज विज्ञान विकास की जिस अवस्था में पहुंच गया है उसमें पुरानी परम्पराओं की वैज्ञानिकता सिद्ध होने लगी है। आप जानते है कि बहनें हाथ में, गले में आभूषण पहनती हैं। वे आभूषण स्वर्ण के क्यों होते हैं? वे आभूषण उनकी शोभा तो बढ़ाते ही हैं, किन्तु विज्ञान यह बात भी सिद्ध करता है कि यदि शरीर पर स्वर्ण हो तो वह पहनने वाले के हृदय की गति बराबर रखता है। गले में यदि स्वर्ण का हार होता है और उसके स्वर्ण से हृदय का स्पर्श होता रहता है तो वह रक्तवाहिनी धमनियों के रक्त को सहज ही ताकत देने वाला बनता है। अतः आभूषण धारण करनेवाले की हृदय-गति संतुलित रहती है। आज का विज्ञान भी आयुर्वेद के इस सिद्धान्त को स्वीकार करता है कि यदि हार्ट का मरीज है और खून उचित मात्रा में सप्लाई नहीं हो रहा है, तो उसे स्वर्ण भस्म देते हैं। इस प्रकार स्वर्ण अन्दर जाता है तो भी लाभ और बाहर उसका स्पर्श मिलता है तो भी लाभ। जो सोने-चांदी की दलाली करते हैं। वे सोने को केवल हाथ में लेकर इधर-उधर ही करते हैं, किन्तु इतने स्पर्श से ही ऊर्जा प्राप्त हो जाती है। हम ऊर्जा के सिद्धान्त को भी जानते हैं। यदि पात्र में गरम पानी पड़ा है और उस पर हाथ ले जाकर भाप लें तो हाथ कोमल हो जाते हैं। अंगीठी पास

में पड़ी हो तो भी आपको गरमी महसूस होती है। वैसे ही स्वर्ण के स्पर्श से ही कई बीमारियां ठीक हो जाती हैं। कहा जाता है कि नमक की डली मुट्ठी में बंद कर ले तो मिर्गी का कोप नहीं होता। इसके पीछे क्या तर्क है? वैज्ञानिक भाषा में आप जिसे ऊर्जा कहते हैं उसे तीर्थंकर देवों ने दूसरे नाम से संबोधित किया है। उन्होंने कहा है कि पुद्गल का भी प्रभाव आत्मा पर होता है। यह जैन सिद्धान्त का मान्य तत्त्व है। आप आहार करते हैं तो शरीर पर उसका प्रभाव होता है या नहीं? अन्न की ऊर्जा का शरीर पर प्रभाव पड़ता ही है।

इसी प्रकार पुदगल का प्रभाव चेतना पर पड़ता है। ज्ञानावरणीय कर्म के पुद्गल ज्ञानशक्ति को आवृत करते हैं वे पुद्गल हैं या चेतन? पुद्गल हैं, उनमें ऐसी शक्ति है कि वे हमारी चेतना को आवृत कर लेते हैं। दर्शनावरणीय कर्म चेतना की शक्ति को आवृत करते हैं और जब क्षयोपशम होता है तब ज्ञान-दर्शन चारित्र की शक्तियां प्रकट होती हैं। आज हम कहते हैं कि हमारे भीतर अनेक शक्तियां हैं किन्तु यदि अन्तराय का क्षयोपशम हो, तो ही हम पुरुषार्थ कर पाते हैं। एक व्यक्ति बहुत जानता है पर पुरुषार्थ नहीं कर पाता है, तो मानिये कि उसके वीर्यान्तराय का तदनुरूप क्षयोपक्षम नहीं है। एक व्यक्ति का धर्म के प्रति रुझान बनता है किन्तु धर्म-क्षेत्र में गति नहीं कर पाता तो उसके धर्मान्तराय का तदनुरूप क्षयोपक्षम नहीं है। यह धर्मान्तराय होता है वीर्यान्तराय के ही अन्तर्गत। पुरुषार्थ तब जगता है जब वीर्यान्तराय का क्षयोपशम होता है। एक व्यक्ति साधु बन जाता है उसके बाद भी उद्यम नहीं जगा पाता, क्योंकि वीर्यान्तराय का यथायोग्य क्ष्योपक्षम नहीं है। एक व्यक्ति ज्ञान में एक कदम नहीं बढ़ पाता पर पुरुषार्थ बहुत करता है। उसके वीर्यान्तराय का क्षयोपक्षम प्रबल है तो पुरुषार्थ बहुत करता है, किन्तु ज्ञानावरणीय कर्म के उदयभाव से ज्ञान को प्राप्त नहीं कर पाता। ज्ञानावरणीय का क्षयोपक्षम हो तो ज्ञान की प्राप्ति होती है और वीर्यान्तराय का क्षयोपशम हो तो पुरुषार्थ जाग्रत् होता है।

कभी हम सोच लेते हैं कि यह उस कर्म का उदय है, किन्तु कई अन्य बातें भी घुली-मिली होती हैं। ज्ञान के लिए ज्ञानावरणीय के साथ मोहनीय कर्म का भी क्षयोपशम होता है तब उसका अलग रूप बनता है। ज्ञानावरणीय, मोहनीय और अंतराय का क्षयोपशम हो, तब जाकर हमारे में ज्ञानपूर्वक चारित्र

भावना प्रबल हो पाती है। पर कोई सोच ले, जब होना होगा, हो जाएगा, पुरुषार्थ नहीं करे तो समझिये कि पुरुषार्थ भी बैठे-बैठे जागृत नहीं होता। आग पड़ी है किन्तु वह अपने-आप नहीं सुलगती। पहले राख के नीचे आग को दबा देते थे, पर उसे सुलगाने के लिए पुरुषार्थ करना पड़ता था। वैसे ही पुरुषार्थ से हमारे भीतर ज्योति प्रकट होती है। कभी उसके लिए पुरुषार्थ अधिक करना पड़ता है, कभी थोड़े-से पुरुषार्थ से काम चल जाता है। माता मरुदेवी ने पहले पुरुषार्थ खूब कर लिया था। ६० हजार मास खमण कर लिए थे। आज तो ६० हजार उपवास भी मुश्किल पड़ जाएंगे। ६० हजार मास खमन कर लिए एक जिन्दगी में! उससे बहुत कर्मों की निर्जरा करके आत्मा कितनी हल्की हो गई, इसका विवरण-कथा भागों में आता है कि- हाथी के हौदे पर बैठे हैं, जा कहां रहे हैं? भगवान् ऋषभदेव के दर्शन करने। दर्शन हुए या नहीं? बाकी रहे क्या? ऐसे दर्शन किए कि भगवान् कभी ओझल ही नहीं होवें। सदा-सदा वही रूप सामने रहे। इधर कर्मों का क्षय हुआ और उधर केवलज्ञान में दर्शन हो गये। पहले पुरुषार्थ बहुत कर लिया था तो अब थोड़े-से पुरुषार्थ से सफलता मिल गई।

भरत चक्रवर्ती आरिसा भवन में हैं, पुरुषार्थ कितना किया? माचिस में थोड़ी-सी सील आगई थी, तूली रगड़ी कि आग प्रकट हो गई। वैसे ही भरतजी अल्प प्रयास से केवलज्ञान की ज्योति प्राप्त हो गई। भाई कहते हैं- आज प्रतिक्रमण याद करते है, कल भूल जाते हैं, किन्तु-

करत-करत अभ्यास के, जड़मति होत सुजान।
रसरी आवत-जात ते, सिल पर पड़त निशान॥

शिला पर निशान हो सकता है तो हमें प्रतिक्रमण कण्ठस्थ क्यों नहीं हो सकता? शांतक्रांति के अग्रदूत स्व. गणेशाचार्य के पास एक भक्त पहुंचा, कहने लगा- भावना होती है दीक्षा लूं, पर प्रतिक्रमण याद नहीं है। तो आचार्यश्री ने कहा- ऐसी क्या बात है, चाहो तो कर सकते हो। उसने पहले भी पुरुषार्थ किया था, किन्तु आचार्यश्री वचन निकले और उसने झेल लिये। आज संत कोई बात कहते हैं और आप विश्वास करके झेल लेते हैं तो फिर वह आपकी हो जाती है। लेकिन झेले ही नहीं तो होगी कैसे? वे भक्त थे ईश्वरचंदजी सुराणा, जिन्होंने वचन झेले, फिर धड़ाधड़ याद कर लिये। पुरुषार्थ जगा लिया। मुनि बन गये।

आपने सुना होगा माषतुषमुनि को, संत कहते हैं- कैसा ठोठीराम है, यहां बताया और वहां जाकर भूल जाता है, पर कई संत कहते हैं- ओहो! कितना पुरुषार्थ करता है। ठोठीराम जब ऐसे शब्द सुनता तो मन को पीड़ा होती, परन्तु सुनता कि पुरुषार्थ करता है तो प्रसन्नता होती कि मेरी प्रशंसा करते हैं। अपनी आलोचना गुरु के पास रखी। गुरु ने कहा- प्रशंसा में हर्ष नहीं, और निन्दा करे तो आपे से बाहर नहीं आना, मन में गमगीन नहीं होना, खेद नहीं करना। समभाव की आराधना करते रहो। इसके लिए एक सूत्र याद कर लो 'मा रुष मा तुष'। वह सूत्र पाकर खुश हुआ किन्तु उसी समय उसे हाजत हो गई। पंचमी गया और सूत्र भूल गया। रास्ते में किसान खला निकाल रहे थे। उनसे पूछा- क्या कर रहे हो? किसान ने कहा माष (उड़द) है और ये तुष (भूसा) माष से तुष को अलग कर रहा हूं। और उन मुनि ने सोचा- अरे! गुरु ने यही तो कहा था- 'माष तुष'। गुरु का अभिप्राय था- माष अर्थात् मेरी आत्मा अलग है और तुष अर्थात् शरीर अलग है। कहां से कहां पहुंच गये! यह थी उनकी प्रज्ञा। चिन्तन चला और किसान के खेत पर ही परिवर्तन हो गया 'मुझे माष से तुष अलग करना है और चिन्तन करते-करते केवल्य ज्योति प्रकट कर ली। इसलिए किसी की हंसी नहीं उड़ावें। किस समय किसका नंबर आ जाय, पता नहीं। पाटे पर बैठने वाले को लंबा समय लग जाये और जमीन पर बैठने वाला बाजी मार ले। कोई जरूरी नहीं कि पाटे पर बैठने वाला शीघ्र मोक्ष प्राप्त कर ले। वह भले क्षेत्र की दृष्टि से नजदीक हो पर भावनाओं से नजदीकी न बने तो दूर के दूर ही रहने वाले हैं। आराधना सही नहीं बने तबतक प्रवेश नहीं होगा। चिन्तन करने की आवश्यकता है।

बड़ी दीक्षा के प्रसंग से बहुत-सी बातें कहने में आ चुकी हैं। छेदोपस्थानीय के रूप में आज महाव्रतों का आरोपण करना है। छज्जीवनिकाय का उस रूप में उच्चारण वर्जित है पर यहां जो प्रसंग उपस्थित होगा, वह स्वाध्याय का प्रसंग है।

आपने सुना होगा कि किसी जगह संतों का चातुर्मास हुआ और पूछ लिया- कौन-सा शास्त्र सुनाऊं? श्रावकों ने कहा- आप ही फरमाएं आप कौनसा शास्त्र सुनाएंगे। संत ने कहा- उत्तराध्ययन? श्रावकों ने कहा- यह तो सुनते ही

रहे हैं। संतों ने कहा- उपासक दशांग सूत्र? श्रावकों ने कहा- यह भी सुना हुआ है। तब संतों ने कहा भगवती सूत्र? श्रावकों ने कहा- हां, यह चलाओ। संत ने सोचा- ये सुनना चाहते हैं पर पहले इनके हालात तो जान लूं। पूछ- लिया पंचेन्द्रिय कौन?

श्रावक- पंचेन्द्रिय हाथी है। हाथी के चार पैर और एक सूंड़ होती है।

संत- चतुरिन्द्रिय कौन?

श्रावक- चतुरिन्द्रिय तो ऊंट है क्योंकि उसकी गर्दन ऊंची रहती है।

संत- तेइन्द्रिय कौन?

श्रावक- घोड़ा तेइन्द्रिय है, तीन पैरों पर खड़ा रहता है।

संत- अच्छा, बेइन्द्रिय कौन है?

श्रावक- मैं और मेरी घरवाली।

संत- और एकेन्द्रिय?

श्रावक- एकेन्द्रिय में आप हैं, आपके न कोई आगे है और न कोई पीछे है।

संत समझ गये। सोचा, यह है इनका शास्त्रीय ज्ञान और चाहते हैं भगवती सूत्र सुनाऊं! ऐसे ही एक संत ने गांव में पूछ लिया- आपने व्याख्यान तो बहुत सुने हैं, बताओं पांच महाव्रत कौन-से हैं? उन्होंने उत्तर दिया- ओघा, मुंहपत्ती, चादर, चोलपट्टा और झोली।

आप जानते हैं पांच महाव्रत कौन-से हैं और किस रूप में हैं। किन्तु वहां उन संत ने कहा- भाई तुमने हाथ पकड़ लिया है और उन्होंने गांव वालों की बात की पुष्टि इस प्रकार कर दी।

(१) ओघा- अहिंसा का प्रतीक है, रात्रि में पूज कर चलना, एक कदम भी बिना पूंजे नहीं रखना चाहिये। इसलिये यह अहिंसा का प्रतीक, पहला महाव्रत हो गया।

(२) मुंहपत्ती- बिना विचारे जो कहे, सो पीछे पछताय....। बिना सोचे बोलना नहीं। एक लफ्ज निकले वह भी निरर्थक नहीं। योद्धा युद्ध-भूमि में तीर चलाता है। एक तीर भी खाली चला गया तो मानों प्राण चले गये। एक तीर से सैकड़ों को परास्त कर सकता है पर एक भी विफल हो गया तो वह निहत्था

बना देता है। एक भी लफ्ज बाहर निकले तो हिये की तराजू पर तोल कर निकाले। सोचं ले कि बाहर आने पर क्या रूप बनेगा, उसी रूप में प्रयोग हो।

(३) चादर- धन-रुपये अपने पास पाकेट में रखे जाते हैं। पर चादर ऐसी जिसमें कोई पाकेट नहीं, पाकेट नहीं तो फिर रखे कहां तो रखे ही नहीं, ले ही नहीं। यह अचौर्य का प्रतीक है। बिना दिये कोई चीज ग्रहण न करे। चाहे खाने-पीने की चीज हो या पढ़ने-लिखने की चीज हो, बिना आज्ञा नहीं लेना। और तो क्या, यदि स्वधर्मी का सामान है तो भी अनुमति लेकर प्रयोग करना। एक भी सामान के बिना अनुज्ञा हाथ नहीं लगाना। देव अदत्त, गुरु अदत्त,...। देव की आज्ञा की चोरी देव अदत्त है। तीर्थंकर देवों की आज्ञा के विपरीत करे तो वह तीर्थंकर देवों की अनुज्ञा की चोरी है। बिना अनुज्ञा लिये मकान में नहीं ठहरना, क्योंकि वहां तुम्हारा स्वामित्व नहीं है। और तो और, इतनी बारीकी से बताया है कि यदि वह सुई लेने जाये और कह दे चादर सिलनी है, तो वह चादर ही सिल सकता है अन्य चोल-पट्टे आदि की सिलाई नहीं कर सकता क्योंकि वह चादर का बोल कर आया है।

(४) चोलपट्टा- सर्व प्रकार से जगत् की सभी स्त्रियों को माता-बहिन के रूप में देखें। किसी के प्रति कोई दुर्भावना नहीं रखें। मन-वचन-काया से ब्रह्मचर्य व्रत में एकाकारिता बने। कोई कह दे- महाराज मेरे लड़का नहीं है, कुछ मंत्र बता दो। नहीं बताना। चोलपट्टे का तात्पर्य है, लंगोट के पक्के।

(५) झोली- न कोई ताला, न कोई चाबी। इसलिए कहा झोली। पैसा हो तो तिजोरी की आवश्यकता है। यह झोली अपरिग्रह का प्रतीक है।

"साधु बड़ा सावधान, रात रखे न पाव धान।" कल की चिन्ता नहीं। मौसम बिगड़ा हुआ है तो लाकर रख लो, कल काम आ जाएगा, ऐसा भी वह नहीं सोचता। अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह व्रत के सैद्धान्तिक पक्षों की यह अत्यन्त व्यावहारिक विवेचना हुई। इसे यो भी समझ सकते हैं।

ज्योतिर्धर जवाहराचार्य से किसी भाई ने कहा- "महाराज! आजकल घी बड़ा महंगा हो गया है।" आज महंगा है कि सस्ता? आप कहेंगें घी खाने वाले जानें, हमें तो डाक्टर ने मना कर दिया है। आचार्यश्री ने कहा- "महंगा आपके लिए होगा, साधु के लिए तो कुछ महंगा नहीं है।" जिन्हें उपभोग की कोई लालसा नहीं उनके लिये

महंगा-सस्ता का क्या मतलब? फिर यह भौतिकवादी चिन्तन भी है। आप का अर्थशास्त्र मांग और पूर्ति की कसौटी पर सब-कुछ कसता है और उनके बीच कोई सूत्र ढूंढता है। तो ऐसा सूत्र तो सामान्यतम आवश्यकता पर भी लागू होता है। इसी आधार पर मैं कह दूं घी के बजाय आज पानी महंगा हो गया है। ऐसा है भी मैंने एक दिन विचार करते हुए संतों से कहा था कि थोड़ा पुरुषार्थ करना पड़ेगा, परीषह सहन करना पड़ेगा। जिन घरों में धोवन-पानी उपलब्ध न हो और वे भावना भावें -म.सा. गोचरी कर लो, तो टाल देना चाहिए धोवन नहीं है तो फिर गोचरी के लिए अभी अवसर कहां है? धोवन नहीं है तो, रोटी का क्या करें? धोवन होगा तब देखेंगे। फिर देखो स्थिति सुधर जायेगी। कई लोग त्याग रखते हैं कि कच्चा पानी नहीं पीयेंगे। पर क्या करते हैं- लौंग पीस कर डाल देते हैं, त्रिफला डाल देते हैं। पर यह धोवन नहीं है। यह परम्परा शुद्ध नहीं है । जो धोने से बनता है वह धोवन है क्योंकि धोने से पूरे पानी में आलोड़न होता है, पूरे पानी का स्पर्श हो जाता है अतः वहां पूर्णतया निर्जीव होने की संभावना रहती है। इस प्रकार आप स्वयं पीते हैं तो कभी सहज रुप में संतों को भी प्रतिलाभित करने का अवसर प्राप्त हो सकता हैं।

❑❑

मंगल पथ पर यात्रा

पंथडो निहारूं रे बीजा जिन तणो रे......।

कभी जिनेश्वर देवों के पंथ को निहार लिया जाय और यदि एक के पंथ को भी सही रूप में अपना लिया तो उद्धार हो सकता है क्योंकि जो एक तीर्थंकर का मार्ग है, वही २४ तीर्थंकरों का मार्ग है। यही नहीं, अनंत चौबीसियां हो चुकी हैं परन्तु मार्ग नहीं बदला है और आने वाले समय में भी जो तीर्थंकर भगवन्त होंगे उनका भी वही मार्ग रहेगा। आचार्य उमास्वाति ने कहा है- **सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः।** सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र मोक्ष का मार्ग है। इसी मार्ग पर चल कर अनंतानंत आत्माओं ने उस मंजिल को वरा है और इस मार्ग पर चलने वाली आत्मा ही मंजिल पर सफल हो पाती है। इससे भिन्न यदि कोई सोचे कि अमुक मार्ग से पहुंच जाऊं, तो यह संभव नहीं है।

भगवती सूत्र में एक प्रश्न पूछ लिया गया कि भगवन्! सिद्धि-मुक्ति स्वलिंग में या पर-लिंग में? और यदि पर-लिंग में है तो अन्य लिंग में है या गृहस्थ लिंग में? तीर्थंकर देवों ने या प्रभु महावीर ने अनेकान्त की शैली में उत्तर दिया। उन्होंने कहा- सिद्धि स्वलिंग में भी है, पर-लिंग में भी है। द्रव्य रूप से चाहे कोई भी लिंग हो, कोई बाधा नहीं, किन्तु भाव रूप से चिन्तन किया जाय तो वहां स्पष्ट कह दिया गया है कि सिद्धि स्वलिंग में ही है, पर-लिंग में संभव नहीं। क्या है इसका तात्पर्य? ऊपर की पोशाक गृहस्थ की, जोगी की, सन्यासी की, भगवा वस्त्र या अन्य किसी वस्त्र में क्यों न हो, बाहर का अन्य लिंग सिद्धि में रुकावट नहीं डालता। किन्तु भावों का अन्य लिंग बाधक है। इसलिए भावरूप में स्वलिंग में ही सिद्धि मानी गई। इसका कारण यह है कि भावों में जो स्वलिंग है, वह है सम्यक् दर्शन-ज्ञान-चारित्र। उसके विना मुक्ति नहीं। उस लिंग में प्रविष्ट होना ही होगा। जब तक ज्ञान-दर्शन-चारित्र से संवंध न जुड़े, तव तक सिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र को मोक्ष का मार्ग कहा गया है किन्तु इनका स्वरूप है क्या? बड़ी विडम्बना है। सम्यग्दर्शन है क्या? हम अपनी बपौती मानकर चलते हैं कि जैन कुल में जन्म लेने वाला सम्यकदृष्टि कहला सकता है पर जैन कुल में जन्म लेने मात्र से सम्यग्दृष्टि हो जाय तब तो सारे जैनियों को सम्यक्द्रष्टा होने का सार्टिफिकेट मिल जाना चाहिए या मिला हुआ होना चाहिये। किन्तु ऐसा नहीं है। जैन कुल के अुनरूप व्यवहार नहीं है तो कैसे सम्यग्दर्शी बनेगा? क्या सम्यग्दर्शन वाला कत्लखानों का डायरेक्टर बनेगा? कथमपि नहीं।

सम्यग्दर्शन के लिए भी दो लिंग कहे गये हैं- (१) द्रव्य (२) भाव।

द्रव्य - से व्यवहार में सुदेव, सुगुरु, सुधर्म में श्रद्धा रख कर चल रहा है उसे भी सम्यग्दृष्टि कहा जाता है किन्तु अंतरंग लिंग/भाव लिंग है। अनन्तानुबंधी चतुष्क व दर्शनत्रिक का क्षय उपशम या तदनुरूप क्षयोपक्षम ऐसा माना जाता है। और इस विषय को कुछ स्पष्ट कर देता हूं। मोह कर्म के दो भेद किये गये हैं- (१) दर्शन मोह (२) चारित्र मोह। बात ध्यान में लेते रहने की है। दर्शन मोहनीय की ३ प्रकृतियां हैं और चारित्र मोह की २५ प्रकृतिया हैं। जब दर्शन मोह की तीन प्रकृतियां हैं तो सम्यक्दर्शन के अंतरंग कारण में अनन्तानुबंधी चतुष्क को क्यों जोड़ा जा रहा हैं, वह तो चारित्र मोहनीय का भेद है। दर्शन मोह का भेद है ही नहीं। जब दर्शन मोह का भेद ही नहीं है तो सम्यक्दर्शन में वह बाधा क्यों पहुंचाएगी ऐसी स्थिति में ७ प्रकृतियों को क्षय, उपशम या क्षयोपशम क्यों कहते है? क्या चारित्र मोह, दर्शन में बाधा पहुंचाएगा? नहीं। तो फिर उसे लेने से क्या फायदा, उसे क्यों गिनें? पर यह भी हमारा मन मानेगा नहीं। पूर्वजों ने जो लाइन लगा दी उसे छोड़ें कैसे। लाइन बन जाना एक बात है पर उसे पकड़ लेना और इतनी मजबूती से पकड़ लेना कि सत्यतथ्य भी स्वीकार करने को तैयार नहीं रहते। जो पकड़ लिया उसे छोड़ ही नहीं पाते हैं, और कहते है- मोह क्यों है?।

गौतम बुद्ध ने कहा था कि जिस वृक्ष के नीचे वे बुद्ध बने थे उसे रहने मत देना। बोधि वृक्ष को रहने मत देना, नहीं तो लोग बुद्ध को भूल जायेंगे। उन्होंने तो कहा- लोग बुद्ध को भूल जाएंगे पर हमारा हाल क्या है? हम क्या क्या नहीं करने योग्य को करने की तैयारी कर लेते है। संत कह भी दें तो सुनेंगे या नहीं? एक तरफ तो कहेंगे- हम श्रमणोपासक हैं, पर दूसरी तरफ हमारे मन की बात नहीं बनती है तो वहां किस रूप में प्रस्तुतीकरण वन जाता है, यह सोचा

है क्या कमी? आज आए दिन स्थानकवासियों की बोलती बंद होने लगी है। क्या बोलें? एक पक्ष कहता है कि जब आप गुरुओं के नाम से समाधि-स्थल आदि निर्मित कर सकते हैं तो तीर्थंकर देवों के नाम से करने में क्या परेशानी है? आप मौन हो जाते हैं। मौन धारण-समाधान नहीं है। हम विचार करें कि, कहां से क्रांति उठी और उस मार्ग को पकड़ने में कितना समय लगा? अब फिर जिस मार्ग को पकड़ रहे हो उससे सही मार्ग पकड़ने में कितनी कठिनाई होगी? अभी तो इतना ही कर रहे हैं किन्तु आने वाले समय में उसी स्थान को जब सब-कुछ मान लेंगे उस समय क्या स्थिति होगी? फिर कहेंगे कि यह तो परम्परा है। यह बात समझ लीजिये कि यदि मूल को ही नष्ट कर दिया तो वृक्ष फलने की आशा व्यर्थ है। अतः हम संभलें, ऐसी कोई पकड़ न हो जो हमें गर्त में ले जाने वाली हो।

मैं दर्शन मोहनीय की प्रकृतियों की बात कर रहा था कि वह भी एक परम्परा है। मैं यह भी कहता हूं कि बिना सोचे-समझे सहसा परम्परा में परिवर्तन नहीं करना चाहिये। किन्तु यदि कोई प्रश्न उठा है और यदि हमारे क्षयोपशम में पूरी बात (उत्तर) नहीं झलकती है तो हमें खोज करनी चाहिये। यदि हमें लगता है कि चारित्र मोह के क्षयादि बिना, दर्शन मोह के क्षयादि से ही सम्यग्दर्शन हो सकता है तो हमें गवेषणा करनी चाहिए। अभी हमारे सामने से शास्त्र लुप्त नहीं हो गये हैं। अभी वह काल दूर है जब दशवैकालिक सूत्र के चार अध्ययन ही रह जाएंगे। अभी तो प्रचुर आगम-साहित्य, कर्म सिद्धान्त का साहित्य पड़ा है, किन्तु खोजने के लिए बुद्धि का उपयोग तो लगाना पड़ेगा। वह कितना लगा पाते है, यह देखने की बात है क्योंकि भागते-दौड़ते तो खोज हो नहीं सकती। यदि किसी विषय की खोज में लगना है तो खपना पड़ेगा। जीवन का भोग देना पड़ेगा।

आज वैज्ञानिकों के लिए हम कहते हैं कि वे जैन सिद्धान्त को पकड़ कर खोज कर रहे हैं, पर आपको किसी ने रोका था क्या कि आप मत खोजिये? वे तो आज जुड़े हैं, पर तुम्हारे पास तो वे पीढ़ियों से बपौती के रूप में पड़े हैं, फिर तुमने क्यों नहीं की शोध? उत्तर कटु है पर स्पष्ट है। हमारा चिन्तन रहा है "भज कलदारं" पैसा ही हमारे लिए सब-कुछ है।

शांतक्रांति के अग्रदूत स्व. गणेशाचार्य आज के भक्तों का चित्रण करते हुए फरमाते थे-

पइसो म्हारो परमेश्वर, लुगाई म्हारी गुरु।
छोरा-छोरी शालिग्राम, सेवा यांरी करूं॥

यदि यही धर्म है, पैसा ही दर्शन है, देव, गुरु, धर्म जो-कुछ है सब पैसा है तो इसकी ही आराधना कर लो। तब क्या बेड़ा पार हो जावेगा? पता नहीं बेड़ा किस चट्टान से जाकर टकराएगा और टुकड़े-टुकड़े हो जायेगा। पर यह भी सत्य है कि जब तक टूटेगा नहीं तब तक आंख भी नहीं खुलेगी। बंगला भाषा में एक कहावत है- 'ठेकला बुद्धि काज दे।'

ठोकर लगती है तब बुद्धि काम देती है। बुजुर्ग कहते हैं ठोकर लगनी चाहिए, तभी तो आदमी बनेगा, नहीं तो पशु का पशु रह जाएगा। पर ठोकर लगे कैसे? कल्पना कीजिये कि कोई व्यक्ति समुद्री यात्रा पर जा रहा है, और वहां समुद्र में जहाज चट्टान से टकरा कर टूट जाये, सब-कुछ डूब जाय, जैसे-तैसे कोई पाटिया हाथ लग जाये और वह हाथ-पैर चलाने की कोशिश करे, पहले वह तैरना नहीं जानता था पर जैसे ही डूबने लगा, उसका दिमाग चल पड़ा, उसकी बुद्धि काम करने लगी। जब जान पर आ बनती है तब ऐसा ही होता है। उसी प्रकार-"पइसों म्हारो परमेश्वर" का चिन्तन रूपी यह बेड़ा जब तक नहीं टूटेगा तब तक बुद्धि जाग्रत् नहीं होगी। जब यह टूटेगा तव पता लगेगा कि यह तो बेड़ा नहीं, कुछ और ही था। कागज की नाव थी, पानी लगा और गल गई। तब समझ लीजिये कि यह नाव पार नहीं लगायेगी। यह मोह की नाव है। इसने किसी को तिराया होता, तो सारे तिर गए होते। पर इससे पार नहीं पायेंगे। लेकिन यह ज्ञान जब जगेगा तभी व्यक्ति उसे छोड़ पायेगा। नहीं जागेगा तब तक तो यही लगेगा कि इसी में कुछ मिलेगा। क्या मिलेगा? अनादि काल से इसी नाव पर बैठे हैं पर गिनती कर पायेंगे जन्मों की? यहां तो वर्षों की गिनती फिर भी लग जाएगी। हो सकता है कम्प्यूटर घंटे, मिनट और सेकंड तक आपकी लाइफ का हिसाब बता दे, पर कितने जन्म हो चुके हैं इसकी गणना तो वह भी नहीं कर पायेगा। हम अनादि काल से इसी पोत पर बैठे हैं किन्तु अव तक कहीं कोई किनारा मिल नहीं पाया। अभी भी बैठे रहे तो आगे भी मिल नहीं पायेगा। इसलिए कहा है- वीतराग-वाणी के यान में बैठिये, मोह-कर्म के क्षयोपशम-रूपी यान में बैठिये। फिर देखिये किस गति से यान चलता है और मंजिल की ओर गतिशील होता है। एक वार यान पर आरूढ़ हो गये तो फिर काल सीमित हो जायेगा। अर्द्धपुद्गल परार्वतन में उसे समेट लिया तो लंबी यात्रा की आवश्यकता

नहीं रहेगी। किन्तु जब तक दर्शन मोह की तिगड़ी व चारित्र मोह की चौकड़ी को नहीं पहचानेंगे तब तक स्थिति विचित्र ही बनी रहेगी। दर्शन मोह की मूल प्रकृति एक है, किन्तु अपने पुरुषार्थ से हम इन्हें तीन वना लेते हैं, क्योंकि वह अकेली इतनी जबरदस्त है कि उसका सामना कर पाना कठिन है। इसलिए भेद-नीति चलती है। और यदि एक के तीन टुकड़े हो जायें तो वह कमजोर हो जाती है। जब हम शस्त्र अर्थात् अध्यवसाय से भेदन करते हैं तो भेदन से उसे तीन भागों में विभक्त करते हैं। ऐसा करने के वाद मिथ्यात्व मोहनीय का दलिक चतुःस्थान नहीं रह पाता। उसका घात होकर जव रस हलका होता है तो हमें आत्म-अनुभूति में बाधा नहीं होती। एक परत पत्थर, ईंट, चूने की होती है, दूसरी मोटे कपड़े की और तीसरी परत ट्रान्सपेरेन्ट (पारदर्शी) जैसे कांच या ग्लास की। जैसे शोकेस के भीतर रही हुई वस्तुएं या पुस्तकें स्पष्ट दिखाई देती हैं वैसे ही यदि हम सम्यक्त्व मोहनीय को इतना साफ-सुथरा वना लेते हैं तो आत्मा के स्पंदन का अनुभव कर लेते हैं। परन्तु मिथ्यात्व के रहते हुए वह अनुभव हो नहीं सकता।

सम्यग्मिथ्या अर्थात् मिश्र मोहनीय को भी मिथ्यात्व की प्रधानता में लिया जाता है, क्योंकि उसमें ज्ञान नहीं, अज्ञान की वहुलता होती है। मूल में दर्शन मोहनीय को आवृत करने वाला मिथ्यात्व मोह ही हमारे सामने आता है। अनंतानुबंधी चतुष्क दर्शन मोह में वाधा नहीं पहुंचाता। वाधक नहीं है, फिर उसके क्षयोपशम की आवश्यकता क्यों वन गई? यह विषय जीवनचर्या के साथ जुड़ा हुआ है। मूल में मिथ्यात्व मोह आवृत करने वाला है। वही विपरीत दृष्टि वनाने वाला भी है, उसी के कारण दिमाग में फितूर आते हैं और हम सही तत्त्व को पहचान नहीं पाते। फिर प्रश्न खड़ा होता है कि अनंतानुवंधी के क्षयोपशम का तात्पर्य क्या? देखिये! दो बातें हमारे सामने आती हैं- एक तरफ दृष्टि शुद्ध होगी, किन्तु दृष्टि शुद्ध होने के बाद उसका व्यवहार कैसा है यह भी देखना होता है क्योंकि व्यवहार नहीं बदला तो सही तरीके से दृष्टि-परिवर्तन नहीं बन पाया है यह मानना होगा। सही रूप में दृष्टि-परिवर्तन हो गया हो तो व्यवहार में परिवर्तन जरूर होगा। यह आचरण की शुद्धि कैसे बने? आचरण शुद्ध होता है अनंतानुवंधी चतुष्क के क्षय, क्षयोपशम आदि से। जब तक उसका योग होगा, आचरण शुद्ध नहीं होगा। यदि अनंतानुबंधी चतुष्क दर्शन में बाधक होती तो, दूसरे गुणस्थान में आप सम्यक्त्व नहीं मानते किन्तु दूसरे गुणस्थान में आप

कौन-सी सम्यक्त्व मानते हैं? आप कहेंगे सास्वादन। तब अनंतानुबंधी का योग है या नहीं? यदि आप कहें कि है, तो विचारणीय यह होगा कि अनन्तानुबंधी के रहते दर्शन सम्यक्त्व कैसे हो गया? अतः स्पष्ट है कि दर्शन के लिए तीन प्रकृतियों का क्षयोपशम आवश्यक है, पर व्यवहार-परिवर्तन के लिए अंनतानुबंधी चतुष्क का क्षय-क्षयोपशम आदि आवश्यक है। जैसे श्रावकत्व प्राप्त होता है उसके भी व्यवहार में बदलाव आता है वैसे ही अनन्तानुबंधी चतुष्क के क्षयोपशम आदि ने चारित्र-आचरण को निर्मल किया किन्तु यह संबंध ऐसे जुड़ा हुआ है कि इधर तो दीपक का जलना हुआ और उधर अंधकार का हटना हुआ। वैसे ही दर्शन का प्रकाश हुआ और आचरण-शुद्धि से अंधकार हटा अर्थात् व्यवहार-परिवर्तन हुआ। इस प्रकार इनके कार्य भिन्न-भिन्न हैं। उसे न तो पूर्वजों ने एक माना है, न हम मानें। हम अपने क्षयोपशम से खोज करें, खोज से भी समाधान न मिले तो पूर्व-पुरुषों की जो धारणा रही है, उसमें खोज करें। न मिले तब भी शंका नहीं करें। शंका में झूलते रहे तो धीरे-धीरे आवरण आ जाएगा। बादलों के कारण सूर्य पर आवरण आ जाता है किन्तु यदि सूर्य की किरणें प्रचंड हैं तो बादल सूर्य को आच्छादित नहीं कर सकते। यदि खोजपरक बुद्धि रही तो मिथ्यात्व का आवरण नहीं आयेगा। यदि शंका में रहे तो मिथ्यात्व का आवरण आ जाएगा। कांक्षा मोहनीय के वेदन में शंका का प्रसंग उपस्थित हो जाय और यदि उस समय सही समाधान न कर लें तो मिथ्यात्व में जा सकते हैं। जैसे नन्दन मणियार की आत्मा गई थी। १२ व्रती श्रावक था किन्तु कहां चली गई? बेले का तप, पर बेलेन्स बराबर नहीं रह पाया तो एक ही दिशा में गति बन गई और मिथ्यात्व के दलिकों का स्पर्श कर, मिथ्यात्व में चला गया। यह दशा हमारी भी अनेक बार बनी है, और तीर्थंकर भगवान् महावीर की भी बनी।

भगवान् महावीर का नाम-स्मरण हमारे आत्मा रूपी लोहे पर लगे जंग को काटता है। जैसे स्वर्ण को तेजाब में डालने पर मैल साफ हो जाता है वैसे ही तीर्थंकर देवों का नाम-स्मरण आत्मा की मलीनता को दूर करता है। इसलिए वे पावन हैं, वे पुरुषोत्तम हैं, कैसे-कैसे परीषह सहन किये और सफलता प्राप्त की। वैसे जन्म का नाम वर्धमान था और बाद में वे वीर महावीर कहलाये।

''एस वीरे पसंस्यिए, जे बद्धे पड़िमोयए।''

वीर कौन? जो अपनी बंधी हुई आत्मा को मुक्त करता है। शत्रु को मुक्त करना विशिष्ट है पर बंधी हुई आत्मा को मुक्त करना उससे भी विशिष्ट

है। उदायन महाराज ने, चंड प्रद्योतन से शत्रु-भाव का भाव होने पर भी क्षमाभाव की स्थिति प्रस्तुत की। उन्होंने शत्रु को मुक्त कर दिया, यह कोई सामान्य बात नहीं थी। किन्तु उससे भी बढ़कर वह होता है जो अपनी आत्मा के बंधन को तोड़ता है, उसकी बराबरी हो नहीं सकती। जो हजारों सुभटों को जीत ले पर अपनी आत्मा को नहीं जीत पाये तो उसकी जीत कभी हार में भी बदल सकती है। ऐसी जीत यथार्थ में जीत नहीं होती। कवि आनन्दघनजी प्रार्थना की कड़ियों में कहते हैं- जे ते जीत्यो रे, ते मुझ जीतियो रे....।

हे भगवान्! आपने जिन्हें जीता वे आपके सामने माथा नहीं उठा पाते पर वे हारे हुए, सारे के सारे, मेरे माथे पर धमक पड़े हैं। मैं उनके सामने घुटने टेक दूं तो फिर मैं पुरुष कैसा? जिसने रणभूमि में जाकर एक को भी न हराया हो परन्तु जिसने एक स्वयं की आत्मा को जीत लिया हो वह वस्तुतः वीर है। जैसे भगवान् महावीर ने महावीर के भव में शायद ही शस्त्र उठा कर युद्ध किये हों, पर आत्मा की समर भूमि में उन्होंने विजय प्राप्त की। भारतीय संस्कृति में जो कार्य अमंगल-रूप है, उसके लिए मंगलाचरण नहीं होता, वे वैसे ही पूरे हो जाते हैं। घास-फूस के लिए बीज नहीं बोये जाते, पर उत्तम फसल के लिए बीज बोये जाते हैं, वैसे ही मंगल में प्रवेश करना है तो मंगल स्वरूप को सामने रखना चाहिये।

'इष्ट' से अधिक कोई मंगल हो नहीं सकता। आज समझ नहीं पाते इसलिए 'णमो अरिहंताणं के पहले ओऽम, ह्रीं, श्रीं, लगाते हैं क्योंकि इष्ट पर आस्था नहीं है और इसीलिए तो हमें वांछित फल प्राप्त नहीं हो पाता। जहां "णमो अरिहंताणं" में कहा- 'सव्व पाव पणासणो' क्या बाकी रहा? कुछ भी तो नहीं बचा। इष्ट देव का स्मरण जीवन को सुख देने वाला है। इष्ट गुरु होते हैं। गुरु कौन? जो अंधकार को रोकने वाला हो। अंधकार रुक गया फिर मार्ग में विघ्न कहां? क्योंकि फिर तो प्रकाश ही प्रकाश है, ठोकरें खा नहीं सकते। जो प्रकाश में भी ठोकर खा ले उसे तो ऊपर उठाना ही कठिन है। अंधकार में ठोकर खा ले उसे उठाना पड़ता है। जब प्रकाश हो गया तो विघ्न रह नहीं सकते। हर कार्य में सफलता प्राप्त हो सकती है। कहा गया है कि बिना फल की जानकारी के कोई कार्य में प्रवृति नहीं करता। भगवान् महावीर के जीवन-चरित्र को कहने-सुनने से हमें क्या मिलेगा? दान-तप, शील और भाव और उसके साथ ही त्याग-वैराग्य भी, क्योंकि त्याग-वैराग्य की छाप जब लगती है तभी उसे

वीतराग-मार्ग माना जाता है। सम्यक्त्व दीक्षा भी ग्रहण करते हैं तो पहले वैराग्यभाव आवश्यक है। सम, संवेग, निर्वेद, अनुकम्पा, आस्था, ये भी वैराग्य हैं। यह मुद्रा नहीं लगेगी तब तक वीतराग-शासन में प्रवेश हो नहीं पाएगा। हम हृदय से अनुरागपूर्वक उसे श्रवण करे।

यदि गहरे अनुराग भाव से सुना जाता है तो अस्थि व मज्जा के भीतर तक वह प्रवेश कर जाता है। मज्जा कोमल होती है जिससे हमारे अंगों और अवयवों की हलन-चलन होती है। उसके भीतर तक यदि श्रद्धा प्रवेश कर गई तो उससे संसार परित्त होता है और हमें शाश्वत धाम प्राप्त हो सकता है।

बंधुओ! क्या कुछ बतलाया जाय? भगवान् महावीर के जीवन का एक-एक प्रसंग जीवन को आंदोलित करने वाला है। कहां से यात्रा प्रारंभ हुई और पड़ाव लेते हुए कैसे वे मंजिल पर पहुंचे, यह सब एक साथ कहने की स्थिति नहीं है। हमारी श्रद्धा, भावना और मति वैसी बने और हम तीर्थंकर देवों की स्तुति करें यह अपेक्षित है। शांत भाव से अहोभावपूर्वक सुनकर जीवन को हम धन्य बनाने का प्रयत्न करें, फिर उनके पंथ का अवलोकन कर उस पर आगे बढ़ जायें। हमारा कल्याण ही कल्याण होगा। हमारी मति उस दिशा में प्रेरित हो, यह कामना है।

❑❑

अनुत्तर धर्म श्रद्धा और सिद्धि

प्रभु महावीर से प्रश्न पूछा गया- भगवन्! संवेग से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है- 'संवेगेणं भंते जीवे किं जणयई।' प्रश्न संवेग का है अतः पहले यह जान लें कि संवेग क्या है? क्योंकि यदि संवेग को सही तरीके से जान लेंगे तो उत्तर जानने में कठिनाई नहीं आएगी, और उत्तर हम समझ पाएंगे। तो संवेग को जानें।

संवेग जैसे दो शब्द और हैं आवेग और उद्वेग। तीनों में वेग लगा है परन्तु तीनों भिन्न-भिन्न अर्थों के बोधक हैं। वैसे संवेग में 'सं' अर्थात् संश्लिश्यते। 'सं' का अर्थ संश्लेश लें तो अर्थ होगा- जो वेग आत्मा को चिपकाने वाला है। किन्तु चूंकि अर्थ करते हुए परम्पराओं को सामने रखा जाता है अतः एक शब्द अनेक अर्थों और उनके भावों का ध्वनित करता है। भाव अनंत हैं, शब्द सीमित हैं। सीमित शब्दों में उन भावों की संयोजना होती है और जब भावों को सीमित शब्दों में व्यक्त करते हैं तो एक शब्द के अनेक अर्थ व्यक्त होते हैं।

शास्त्रकारों ने भी बताया है- 'अणंत्ता गमा, अणंत्ता पज्जवा'- अनंत गम व पज्जव हैं। संवेग का यहां अर्थ है समान वेग। वेग होना आवश्यक है। आवेग-उद्वेग, ये कषायों से संबंधित हैं। जिस समय कषाय का उदय हो तो कहा जाता है अभी यह आवेग में है, आवेश में है। यह संसार में भ्रमण कराता है, जबकि संवेग के अलग-अलग अर्थ ग्रंथकारों ने बताये हैं। अचारांग चूर्णि में- सम्यक् वेग, मोक्ष के प्रति जो ललक है, अभिलाषा का जो भाव है, वह संवेग है दशवैकालिक सूत्र की टीका में बताया गया है कि मनुष्य देव संबधी सुखों को छोड़कर जो मोक्ष सुख का अभिलाषी बनाता है, वह संवेग है।

उत्तराध्ययन की टीका करने वाले वृहत वृत्तिकार ने संवेग का अर्थ- मोक्ष की अभिलाषा से लिया है। इनमें यद्यपि शब्दों का हेर-फेर है पर मूल भाव सब में समान है। द्रव्य पंचाध्याय में भी इसकी परिभाषा की गई है। सर्वार्थसिद्धि

की टीका में संवेग के संबंध में जो बात कही गई है, वह कुछ हट कर है। वहां कहा गया है- नरक-तिर्यंच के दुःखों के प्रति भीरु भाव होना अर्थात् गतियों में प्रवेश पाने के प्रति डर, यह अर्थ लिया गया है। द्रव्य संग्रह की टीका में कहा गया है- धर्म में, धर्म के फल में व परमार्थ की आराधना करने वालों के प्रति जो प्रीति है, वह संवेग है। इस प्रकार अलग-अलग ग्रंथों में संवेग की अलग-अलग परिभाषाएं प्रस्तुत की गई हैं। परिभाषाएं और भी हो सकती हैं पर सबके मूल में मोक्ष के प्रति जो वेग है वह संवेग है- ऐसा भाव व्यक्त हुआ है। और मोक्ष के प्रति जो जाग सकता है तो निश्चित है कि संसार के प्रति उसे उदासीन होना होगा। व्यक्ति आज संसार में रचे-पचे हैं, जब यह संसार का रंग लगा है तो मोक्ष का रंग कैसे लगेगा? मोक्ष के प्रति लगाव के लिए संसार से औदासीन्य भाव जरूरी है और संसार से लगाव है तो मोक्ष के प्रति उदासीनता होगी। परिवार में विवाह-शादी कर प्रसंग है, मेहमान आये हैं तो प्राथमिकता मेहमानों को देंगे। तब व्यापार भी गौण, सामायिक करते हैं तो वह भी गौण। यहां हमारे विचार बोध देने वाले बनते हैं। हम समझ पाते हैं कि वस्तुतः हमारे विचार किस रूप में हैं। भरत चक्रवर्ती छः खण्ड के सम्राट् थे। उनके पास तीन संवाद एक साथ पहुंचे-

(१) भगवान् ऋषभदेव का पदार्पण हुआ है और उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति हुई है।
(२) घर में पुत्ररत्न का जन्म हुआ है। और
(३) आयुधशाला में चक्र रत्न प्रकट हुआ है।

और तीनों महोत्सव मनाने के लिए भरत को तैयारी करनी है। पुत्ररत्न की प्राप्ति तो महत्त्वपूर्ण है ही, चक्ररत्न का प्रकट होना भी महत्त्वपूर्ण विषय है और भगवान् ऋषभदेव का पदार्पण तथा उन्हें केवलज्ञान की प्राप्ति की बात भी सामान्य बात नहीं है।

भरत ने तीनों में से सबसे पहला काम चुना- केवलज्ञान का माहात्म्य स्वीकार करना। उन्होंने तय किया कि पहले वह महोत्सव किया जाना चाहिए। उन्होंने उसी प्रकार की सूचना जारी करवा दी और सारे कार्य गौण करके भगवान् ऋषभदेव के चरणों में पहुंच गये। उनका वह निर्णय उनकी आंतरिक अभीप्सा का बोध कराने वाला था। इसलिए घर में रहते हुए भी उनका लक्ष्य मुक्ति का था। बाहर की व्यवस्था करते हुए भी, ध्यान अंतर् पर केन्द्रित था। छः खंड की सारणा-वारणा-धारणा करते हुए भी वह कार्य आत्मा को धूमिल

करने वाला नहीं वना था। आत्मा में जो सम्यक्दर्शन की ज्योति थी, उसे लुप्त करने वाला नहीं वना था। आप विचार करेंगे कि क्या युद्ध करने में भी सम्यक्दृष्टि-भाव सुरक्षित रह जाता है? मेरी समझ से आप जानते हैं कि वारह-व्रती श्रावक चेड़ा सम्राट् ने भी शस्त्र उठाये थे और भारी जनहानि भी हुई थी, पर वारह व्रतों में दोष लगाने की बात "शास्त्रकारों ने नहीं बनाई है। उनकी प्रतिज्ञा थी कि "जो मुझ पर शस्त्र चलाएगा, उसी पर मैं शस्त्र चलाऊंगा। मारना, मेरा लक्ष्य नहीं है। आततायी को दंडित करना मेरा कर्तव्य है पर निरपराधी को गाजर-मूली की तरह काटना मेरा लक्ष्य नहीं है।" ऐसे समय में जब शत्रु-सेना सामने थी और वह युद्ध-भूमि में खड़ा था। उस समय आवेश आ जाना मामूली वात थी। जव एक तरफ रणभेरी बज रही थी और वीरता के गीत गाये जा रहे थे उस समय में भी प्रतिज्ञा को नहीं भूलना, प्रतिज्ञा की स्मृति बनाये रखना कि- जो-जो मेरा अपराधी है, जो मेरे पर वार करेगा, उसी पर वार करूंगा, दूसरे पर वार नहीं करूंगा, अपने-आप में बहुत बड़ी बात थी जो सिद्ध करती थी कि उनका स्वयं पर अद्भुत नियंत्रण था। आप जरा विचार कीजिए कि क्या यह कोई सामान्य बात थी? आज कोई थोड़ी-सी गाली-गलौज भी कर दे तो हम सामायिक में होने का भी ध्यान नहीं करेंगे, सामायिक में ही उबल पड़ेंगे। पर चेड़ा सम्राट् को रणभूमि में भी प्रतिज्ञा का खयाल था। वे केन्द्र में आत्मा को स्थित रखे हुए थे। इसलिए कहा जाता है कि जो १२ व्रत उन्होंने स्वीकार किये हुए थे उन की रक्षा की, उन पर दोष नहीं आने दिया क्योंकि संवेग उनका मूल था। यह संवेग हमारे भीतर भी क्षणिक प्रकट होता है और फिर लुप्त हो जाता है। जैसे आकाश में बिजली चमकती है और लुप्त हो जाती है वैसे ही हमारे अंतर में भी संवेग की बिजली चमकती है और दूसरे क्षण उसका अस्तित्व रह नहीं पाता है। वैभव-संपत्ति तो रहने दीजिये, सवसे पहले इस शरीर का ही भरोसा नहीं है। यह भी विजली की तरह चंचल है इसका भरोसा नहीं। कभी कहते हैं कि अभी उससे मिल कर आ रहा हूं और घर पहुंचे तो समाचार मिले कि अभी जिससे मिल कर आ रहे हैं अव उनका केवल पार्थिव शरीर रह गया है, चैतन्य तो रवाना हो चुका है। ऐसे में कई वार विश्वास नहीं हो पाता कि हकीकत में क्या हो गया पर गैरहकीकत जैसी वात नहीं है। ज्ञानीजन कहते हैं कि हमारे भीतर संवेग-भाव क्षणिक रूप में जगता है, वह यदि स्थाई वन जाय और देव, मनुष्य, तिर्यंच संवंधी काम-भोगों के प्रति जो उदासीनता आ रही है वह नैरन्तर्य प्राप्त कर ले तो जीवन का पासा पलटते देर नहीं लगे।

भगवान् से पूछा गया- "संवेगेणं भंते जीवे किं जणयइ" तो भगवान् ने कहा- 'अणुत्तर धम्मसद्धं जणयइ' अर्थात् अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्रकट होती है। धर्म के प्रति श्रद्धा प्रकट होना और वह भी अनुत्तर! अनुत्तर अर्थात् उसे उत्तर यानी उससे आगे कुछ नहीं। अनुत्तर विमान पांच हैं, उनके बाद कोई और विमान नहीं हैं इसलिए वे अनुत्तर हैं। उनके बाद कोई प्रधान स्थान नहीं है। आप कहेंगे उसके बाद सिद्धि तो है, वह प्रधान ही है पर जिस संदर्भ से यह बात है कि भौतिक सम्पदा का जो अनुत्तर स्थान है, वह अनुत्तर विमान है, उसके आगे भौतिक सम्पत्ति-रूप अनुत्तर स्थान नहीं है। इसलिए कहा गया है कि संवेग से अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्रकट होती है वह उस प्रकार के अंतिम सोपान तक पहुंचा देता है। यदि उसके बदले आवेग की स्थिति बने तो वह कहां पहुंचा देती है यह भी एक उदाहरण समझें। प्रसन्नचन्द्र राजर्षि, जो मुनि बन चुके थे, जिस समय आवेग में आ गये, तब उनके लिए भगवान् से पूछा गया कि वे इस समय यदि काल करें तो कहां जायेगें तो भगवान् ने उत्तर दिया कि यदि इस समय वे काल करें तो सातवीं नरक के मेहमान बनेंगे परन्तु कुछ ही देर पश्चात् उन्होंने केवलज्ञान प्राप्त कर लिया। कितनी जल्दी अंतर आ गया! एक क्षण विचार कहां दौड़ते हैं और दूसरे क्षण कितनी ऊर्ध्वता के सोपान तय करवा देते हैं। इसलिए जो ऊर्ध्व विचार बने हैं उन्हें जल्दी नीचे नहीं आने देना चाहिये। आप कहेंगे कि इस पर हमारा अधिकार कहां है क्योंकि सोचते ही सोचते तो वे झट नीचे उतर जाते हैं। थर्मामीटर का पारा भी उतर जाता है, वैसे ही विचारों का पारा जल्दी से नीचे उतर जाता है, इसलिए स्वयं को सावधान रखने की आवश्यकता है।

सावधान व्यक्ति अपने अध्यवसायों का स्वामी वन सकता है। आप उन रेखाओ को पढ़ सकते हैं और उन रेखाओं के आधार पर जान सकते हैं कि वर्ततान में मैं किन कर्मप्रकृतियों में आवद्ध हो रहा हूं। इस समय आयु का वंध किया, तो कहां का हो सकता है। एक प्रकार का आभास हो सकता है, निश्चय तो नहीं, पर निश्चय के वहुत निकट का आभास हो सकता है वशर्ते अपने अध्यवसायों के अनुभवी वनें। यदि अध्यवसायों के अनुभवी वने तो कोई कारण नहीं कि जान नहीं पायें। प्रसन्नचन्द्र मुनि का जव तक आवेग चलता रहा, मंत्रियों पर चलता रहा कि वे कैसे मंत्री हैं जिन पर इतना विश्वास कर मैंने पुत्र को सौंपा, पर वे मेरे पुत्र पर काली छाया डाल रहे हैं, उसे मौत के मुंह में ले जा रहे हैं, किन्तु मैं अभी जिन्दा हूं और मैं ऐसा नहीं होने दूंगा। उसी आवेग में

उन्होंने युद्ध चालू कर दिया। तरकश में से तीर निकाल कर चलाने लगे। उनके संवंध में जब श्रेणिक ने पूछ लिया कि वे जो सूर्य की तरफ मुंह करके आतपना ले रहे हैं, जिनका जीवन पवित्र है, वे यदि अभी आयु पूर्ण करें तो कहां जाएंगे? तो भगवान् ने कहा- वर्तमान में यदि वे आयु पूर्ण करें तो सातवीं नरक के मेहमान बनेंगे। हम ऊपर की पोशाक देखते हैं किन्तु भगवान् महावीर एक्सरे मशीन के रूप में हैं। जैसे एक्सरे मशीन बाहर की नहीं, किन्तु हमारे भीतर की हड्डीयों, आदि की क्या स्थिति है, उसका फोटो ले लेती है, भगवान् महावीर भी वैसी ही मशीन का रूप हैं जो भीतर की स्थितियों को देखते हैं। उन्हे वह दशा संवेग के आधार पर ही प्राप्त हुई।

भगवान् महावीर की आत्मा की वह संवेग कब-कैसे प्राप्त हुआ, उस संदर्भ में भी जरा विचार करलें। जैसे हमारी आत्मा अनादिकाल से संसार में भ्रमण कर रही है वैसे ही तीर्थंकर प्रभु महावीर की आत्मा भी मिथ्यात्व/अज्ञान में रह रही थी। किन्तु उनमें जब संवेग का संचार हुआ तो उन्होंने जीवन के मूल्यों को जान लिया। पर हमारी स्थिति विचित्र बनी हुई है। यही कारण है कि देवगति में आत्मा गई तो वहां भौतिक पदार्थों में आसक्त बनी। आसक्ति के कारण पुनः पृथ्वी, पानी, वनस्पति में जन्म लेने वाली बन जाती है। कहां देवलोक और कहां पृथ्वी,पानी और वनस्पति! कहां तो इतनी ऊंची उड़ान भरी और कहां वापस जमीन पर आ गये! ऐसी उड़ान तीर्थंकर देवों ने भी भरी, किन्तु उन्होंने फिर आवेग को दूर कर संवेग प्राप्त किया। वापस आवेग व संवेग में झूलते रहे। भगवान् महावीर का ही उदाहरण सामने रखें। एक-एक भव में कितने उतार-चढ़ाव आये। उनके विवरण सुन कर हम बहुत-कुछ झांकी उनके जीवन की देख सकते हैं और समझ सकते हैं कि आवेग से कैसे पतन होता है और संवेग से कैसे उत्थान होता है।

प्रभु महावीर की आत्मा का अज्ञान-तिमिर-मोह में भटकाव हो रहा था। जैसे हम अनादिकाल से अभी तक भ्रमण कर रहे हैं वैसे ही चाहे वह भगवान् ऋषभदेव की आत्मा हो या महावीर की आत्मा हो, जब तक संवेग उपलब्ध नहीं कर पाई तब तक उसी प्रकार से उनकी भी भटकन सतत बनी रही। आने वाले समय में भी जब तक जो-जो आत्माएं संवेग प्राप्त नहीं करेंगी, उनका भटकाव निरन्तर चलता रहेगा। यदि संवेग भी उत्कृष्ट अध्यवसाय से आ गया तो भिन्न बात है, क्योंकि वह भी अलग-अलग कोटि का होता है। जैसा

कि मैंने बताया, एक तो बिजली की तरह एक बार कौंधता है, एक बार चमक पैदा करता है वैसा नहीं, किन्तु उत्कृष्ट कोटि का संवेग आ जाय तो फिर उसका प्रभाव स्थायी हो सकता है। धन तो एक बार आकर गया तो निरर्थक भी हो सकता है, पर एक बार का संवेग जो संस्कार छोड़गा, बीज डालेगा, वह बीज निश्चित रूप से फलीभूत होगा। समय बहुत लग सकता है पर वह आत्मा का निश्चित सिद्धि से जोड़ने वाला बनेगा। वह जीवन की दिशा बदल देगा। अब तक जीवन बिना डोर के सहारे के चलता रहा। किन्तु यदि एक बार संवेग आया और आपने ड़ोर पकड ली तो स्थिति बदल जायेगी। जब तक शादी न हो, लडका का कंवारापन मौजूद रहता है। शादी के बाद भले वह ब्रह्मचर्य पालन कर रहा हो, पर तब कंवारापन नहीं रहता। वैसे ही एक बार संवेग आया तो समझो उसकी शादी हो गई। अब वह अनादिकाल का अज्ञानी नहीं रहा। एक कदम यदि हमने मजबूती से रख लिया तो वह कदम अब हटने वाला नहीं, आगे बढ़ाने वाला बनता है। एक बार कृष्ण-पक्षी से शुक्ल-पक्षी बन गये तो वह शुक्लता प्राप्त होने के बाद फिर चाहे अध्यवसाय से कृष्णलेशी बनें, पर वह शुक्लता/पवित्रता समाप्त नहीं होगी। वह अवस्था यदि प्राप्त हो गई तो वह अपूर्व अवसर होगा। फिर अध्यवसाय मलीन हो सकते हैं, पर वे कृष्ण-पक्षी अवस्था में नहीं ले जा पायेंगे।

भगवान् महावीर की आत्मा इसी प्रकार अज्ञान में परिभ्रमण कर रही थी, पर नयसार के भव में उसने संवेग प्राप्त कर लिया, वह भी कारीगर के भव में। नयसार बहुत बड़ा ठेका लेकर चल रहा था और उसके दिशा-निर्देश में बहुत से मजदूर काम करते थे। वे जंगल से जातिवान लकड़ी लाने का कार्य करते थे। नयसार का एक नियम था कि भोजन करने से पूर्व किसी को भोजन करवाना। नियम तो कई व्यक्ति लेते हैं, पर लेने के बाद क्या अवस्था बन जाती है? नियम लेने के बाद की क्या बात करें, वह तो नियम लेते वक्त भी छूट रखेगा- आपत्ति में छूट, बाहर आने-जाने की छूट, भूल हो जाये तो छूट, बीमारी आ जाय तो छूट, मेहमान आ जाय तो छूट, इतनी-सारी तो छूट ही हो गई, नियम कहां रहा? जैसे बच्चा स्कूल पढ़ने जाता है तो उसे ३६५ दिनों में कितनी छूट दी जाती है? कहते है १८० दिनों की छूट या छुट्टियां और १८० दिन पढ़ाई के। वैसे ही हम छोटे-छोटे प्रत्याख्यानों में इतनी-सारी छूटें रख लेते हैं। ये तो नहीं रखते कि बीमारी आ जाये या मेहमान आ जायें तो आहार छोड़ देंगे।

मेहमान आ गये तो दुगना खायेंगे, चाय-नाश्ता डबल हो जायेगा, पर घटेगा तो केवल धर्म। क्योंकि धर्म तो बेगार है, बेचारा है। जब और कोई काम नहीं होगा, तब माला फेर लेंगे। यदि धर्म को ऐसे बेगार मानकर चले तो हमें वह क्या निहाल करेगा। जिसे बेगार मानेंगे तो वह कभी निहाल नहीं कर सकता। धर्म-श्रद्धा दृढ़ है तो उसका रंग आयेगा, निश्चित आयेगा। कब आएगा? आप चाहो कि मैं चाहूं जब आ जाये, तो नहीं आएगा। पंहले देखें कि आपकी ताकत कितनी है। आपका धर्म पर विश्वास कितना है। द्रोपदी का जिस समय चीर-हरण किया जा रहा था और जब तक वह स्वयं का बल लगाती रही, कुछ नहीं हुआ। किन्तु जिस समय उसका विश्वास अपने इष्ट में जगा, वह उसी में लीन हो गई, समर्पित हो गई। तो क्या हुआ? चमत्कार हो गया।

द्रोपदी चीर सभा में हरणा, तब तेरी ही लीना शरणा...।

आज हम भी चाहते हैं कि धर्म ऐसा कर दे, वैसा कर दे। लेकिन जब परीक्षा में खरे उतरेंगे तभी तो रिजल्ट आएगा। लेकिन हमको तो बार-त्यौहार, शादी-ब्याह, बाहर आदि की छूट चाहिये। साल-भर पढ़े नहीं, परीक्षा दी नहीं, परीक्षा के समय बीमार होकर सो गये, तो उसका रिजल्ट नहीं मिलने वाला है। रिजल्ट उसे मिलता है जो मैदान में डट जाते हैं। घर में दुबक कर बैठ जायें, मैदान में आते संकुचित हों, तो रिजल्ट कैसे मिलेगा? ये बातें श्रावक-धर्म के अनुकूल नहीं हैं। श्रावक संवेग ले कर चलता है तो वह घर में दुबक कर बैठ नहीं जाता। समय आने पर मैदान में भी उतरता है। ऐसे एक नहीं, अनेक उदाहरण हमारे शास्त्रों में हैं। कैसे भी संकट आये, पर वे दौलायमान नहीं हुए। उनके मुंह से नहीं निकला कि मेरा धर्म खोटा है। उनका मानना था- 'धर्म हमारा प्राण है।' जैसे प्राण छोड़ने के बाद शरीर नहीं टिकता, वैसे ही धर्म को छोड़ने के बाद जीवन नहीं टिकता। नयसार एक नियम लेकर चल रहा है कि पहले अतिथि को भोजन करवाऊं। यहां बैठने वालों में कितनों के नियम हैं? भूख है या नहीं है, पर भोजन का टाइम हो गया तो बैठना ही है। अजीर्ण हो गया तो भी चूर्ण-चटनी लेकर ठूंसेगा। दूसरी तरफ एक व्यक्ति सूनी निगाहों से देख रहा है। एक गरीब व्यक्ति, जिसके शरीर पर चमड़ी का ढांचा-मात्र रह गया है, दुबला-पतला शरीर है, टांगे पतली-पतली जैसे पोलियो-ग्रस्त व्यक्ति की हों, कई दिनों से भूखा है या पूरा आहार नहीं मिला है, सोचे कि यह जैनियों की बस्ती है शायद कुछ उपलब्ध हो जाये और आजाये आपके बंगले में। प्रवेश तो करने

देंगे या बाहर से ही दुत्कार देंगे? इससे संबंधित एक व्यंग्य स्मृति में आ गया है। एक भूखा-प्यासा मरियल-सा आदमी एक बंगले पर पहुंचा। बंगले के बाहर लॉन था जिसमें हरी भरी दूब थी। विचार किया, लॉन में जो ये घास है, इसे ही तोड़कर पेट भर लूं। अन्दर से मालकिन ने देखा- ये क्या? ये लॉन खा रहा है! उसने अंदर बुलाया। अरे बाबा! इधर आओ! भूखे गरीब ने सोचा, आज भी भारतीय संस्कृति मरी नहीं है। अभी भी दुनिया में रहम है। अतिथि देवोभव के संस्कार हैं। उसने अंदर प्रवेश किया और एक रूम से दूसरे रूम में होता हुआ डाइनिंग रूम में पहुंचा। उसने देखा कि कितनी-सारी सामग्री थी। हींग आदि की महक से उसकी भूख और भड़क उठी। सोचा, मुझे भी टेबल पर बिठाया जायेगा। लेकिन यह क्या? मालकिन ने कहा- यहां क्यों खड़ा है? इधर आओ। और वह उसे घर में पिछवाड़े में ले गई और कहा- आगे की दूब तो पतली-पतली है, उससे पेट नहीं भरेगा। ये पीछे बड़ी-बड़ी घास है, इसे खाकर पेट भर ले। बाबा सोचने लगा, मैं तो कुछ और सोच रहा था, पर क्या ये ही अतिथि का सम्मान रह गया है? पर नयसार के मन में आतिथ्य का भाव है।

सुना है मैंने- सेठ छगनलालजी मुथा वस्तुतः सेठ थे। जो कोई स्वधर्मी दक्षिण में चला जाता, वे कहते- तुम आये हो, भोजन की चिन्ता मत करना, यहां चौका चलता है। व्यापार के लिए पैसा चाहिए तो ले जाओ। किसी बात का संकोच मत करना। उनके लिए बताते हैं कि वे कभी अकेले भोजन नहीं करते थे। और कोई नहीं हो तो मुनीम को या पड़ोसी को ही बुला लेते। बहुत कम मिलेंगे ऐसे व्यक्ति। सामान्यतः तो ऐसा होता है कि यदि कोई आ जाये, और उससे रिश्ता हो तब तो पधारो सा-पधारो सा, नहीं तो घर मे काम करने वाले व्यक्ति का भी भोजन अलग। कई घरों के रीति-रिवाज ऐसे भी हैं। और तो क्या, आने वाला व्यक्ति कैसा है? पैसे वाला है या गरीब है, इस आधार पर भी भेद-भाव होता है। क्या यही है संवेग? त्याग-वैराग्य के प्रति दृढ़ भावना है तो कोई छूट रखने की आवश्यकता नहीं है। और यदि अपने-आप में अक्षम हैं कि ऐसी धर्म-क्रिया नहीं हो सकती, तो बात अलग है।

दुपहरी हो गई थी। नयसार ने भोजन नहीं किया था। वह देख रहा था कि कोई अतिथि आ जाए। इतने में मार्ग भटके एक मुनिराज दूर से नजर आये। वह उठकर सामने गया। मुनि ने कहा- "भाई! हम मार्ग भूल गये हैं।" नयसार ने कहा- आप तो दुनिया को मार्ग दिखा देते हैं, यह मार्ग तो कोई मायने

नहीं रखता। कोई बात नहीं। आप पधारिये, भोजन ग्रहण करिये और श्रद्धाभाव से प्रासुक निर्दोष आहार बहराया। जब मुनि ने एक स्थान पर बैठ कर भोजन ग्रहण कर लिया तब नयसार चरणों में उपस्थित हुआ और बोला-"भगवन्! आप तो अपनी आत्मा का उत्थान कर रहे हैं पर मेरा कल्याण कैसे होगा? मुझे भी मार्ग दिखाइये।" मुनि ने उसे मार्ग दिखाया। वह मार्ग था सम्यक्दर्शन का। दूसरे शब्दों में कहूं तो संवेग का मार्ग दिखाया। उसे मार्ग मिल गया। उसके आध्यात्मिक जीवन का सूर्य उदित हो गया। हम उन्हीं महावीर के अनुयायी हैं। हमें भी बोध प्राप्त हो जिससे हमारा जीवन भी संवर जाय और यह भव सार्थक हो जाय। हम ध्यान रखें कि आवेग हमें गलत मार्ग पर भटका देते हैं अतः उन पर नियंत्रण प्राप्त करें और उन्हें संवेगों की दिशा में मोड़ दें। यह काम कठिन अवश्य लगता है, पर प्रयत्नशील बने रहें तो कुछ भी कठिन नहीं है। जब कोमल रस्सी की रगड़ से कठोर पत्थर तक कट जाता है तब वृत्तियों को काटना या उनमें सुधार करना कहीं अधिक सरल कार्य है। अध्यवसाय के साथ लगे रहें तो निश्चित रूप से सफलता प्राप्त हो सकती है। यह बात समझ लेने की है।

❑❑

श्रोता की सार्थकता

धर्म के प्रति श्रद्धा, धर्म का आचरण और धर्म की दिशा में पुरुषार्थ- ये तीनों कार्य संवेगों की कुशल संयोजना द्वारा ही संभव हैं। जो ऐसा कर पाता है उसे तो अनुत्तर धर्म की प्राप्ति होती ही है, वह समाज को भी धर्माचरण के अनुशासित मार्ग पर अग्रसर कर जाता है। भगवान् महावीर ने संवेगों की इस महिमा का स्वयं ही बखान किया है। जब उनसे प्रश्न किया गया-"संवेगेण भंते, जीवे किं जणयई" अर्थात् संवेग से किस फल की प्राप्ति होती है? तब भगवान् ने उत्तर दिया- "अनुत्तर धर्म श्रद्धा की प्राप्ति होती है।" यदि किसी व्यक्ति में धर्म के प्रति अनुत्तर श्रद्धा दिखाई दे तो उसे धर्म की दिशा में पुरुषार्थ करने वाला मान लेना चाहिये। ऐसा पुरुषार्थ परम दुर्लभ है। उत्तराध्ययन सूत्र में 'चतुरंगीयम' के अन्तर्गत विवेचना करते हुए कहा गया है-

चत्तारि परमंगाणि दुल्लहाणीह जन्तुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा संजमंमि य वीरियं।। (उत्तराध्ययन ३/१)

इस संसार में जीवों के लिये चार परम अंग दुर्लभ हैं- (१) मनुष्यत्व, (२) सद्धर्म का श्रवण, (३) श्रद्धा और (४) संयम में वीर्य (पराक्रम)। मनुष्य-जन्म तो दुर्लभ है ही, परन्तु मनुष्य-जन्म प्राप्त होने के बाद भी सद्धर्म-श्रवण में रुचि उससे भी दुर्लभ है। कदाचित् वह भी प्राप्त हो जाय तो धर्म-तत्त्वों के प्रति रुचि और उनमें श्रद्धा होना और भी दुर्लभ है। यदि इन तीनों की प्राप्ति का संयोग बन जाय तो भी धर्म-तत्त्वों की दिशा में पुरुषार्थ करना सबसे दुर्लभ है। और अगर वह भी प्राप्त हो जाय तो फिर कुछ प्राप्त करने के लिये शेष नहीं रह जाता। जिन नरपुंगवों को ऐसा दुर्लभ सौभाग्य प्राप्त हो जाता है उनमें से एक थे श्री गणेशाचार्य। वचपन से ही उनमे इन अंगों की उपस्थिति के प्रमाण मिलने लगे थे।

कल्पना कीजिये उदयपुर की उस धर्मसभा की जिसमें वालक गणेश भी

उपस्थित है। आचार्य पूज्यश्री श्रीलालजी म.सा. प्रवचन फरमा रहे हैं और बालक गणेश उनकी अमृतवर्षिणी वाणी का एकाग्रचित्त होकर पान कर रहा है। बालक की यह एकाग्रचित्तता अनोखी है क्योंकि प्रवचन तो सैकड़ों व्यक्ति बैठकर सुनते हैं परन्तु ऐसे एकाग्रभाव से सुननेवाले कम ही होते हैं। सामान्यतः श्रावकों का ध्यान बंटा रहता है, प्रवचन की ओर कम किन्तु निकट-दूर की गतिविधियों का ध्यान ज्यादा रहता है। बाह्य मुद्रा में तो परिवर्तन दिखाई देता है, परन्तु अन्तर की प्रवृत्ति में कितनों का परिवर्तन हो रहा है इसका अनुमान करना कठिन होता है। यदि उनका प्रतिशत निकाला जाय तो १०० में इक्का, दुक्का, या पांच-चार मिलने भी कठिन हैं किन्तु बालक गणेशलाल-पिता के पास बैठा व्याख्यान श्रवण कर रहा था, पर क्या मजाल कि दृष्टि इधर से उधर हो जाय। एक टक हो कर ठीक वैसे ही जैसा कि शास्त्रकारों ने ५ अभिगम का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया है कि पर्युपासना कैसी होनी चाहिये? ये नहीं कि आकर सामायिक ले कर बैठ गये और हो गई पर्युपासना। पर्युपासना के लिए बताया गया है कि यदि पर्युपासना की जा रही है तो मन, वचन और काया एक रूप बन जाय।

यदि श्रोता बनकर बैठे हैं तो उस समय मन या चित्त वक्ता में एकाग्र हो, कान उसी के वचनो के प्रति नियोजित हों, और काया भाव-ग्रहण में विभोर हो। यदि इस प्रकार सुने तो कोई बात लगे भी, अन्यथा क्या लाभ? कहते हैं भगवान् महावीर की एक वाणी सुन लेते थे तो वैराग्य आ जाता था। पर वर्तमान में वैराग्य तो दूर, रोज प्रवचन सुनो तो भी सांचा का झूठ करना नहीं छूटे। कूड़ा तौल, कूड़ा माप, झूठी गवाही श्रावकों को निषिद्ध हैं, पर न जाने कितने तैयार हो जायेंगे, चंद पैसों के पीछे, ऐसा करने के लिये। कैसा बदलाव आया है? क्यो आया है? क्या वीतराग वाणी निस्सार हो गई है? नहीं, उसमें तो सार है, किन्तु आचारांग सूत्र कहता है- जहां मन खोखला हो गया है वहां संवोध टिकता नहीं-

''अट्टे लोए परिजुण्णे, दुसंबोहे अविजाणए।''

जिसका मन जर्जरित हो गया आर्तध्यान से, लोकाचार, लोकैषणा में, मानस में हमेशा आर्त बना रहता है, ऐसा व्यक्ति 'दुसंवोहे' दुस्संवोध्य होता है। उसे वोध मिलना सहज नहीं। वोध प्राप्त करने के लिए मानसिक शक्ति मजवूत होनी चाहिये। यदि ऐसा नहीं है तो वह नहीं झेल पाएगा वीतराग वाणी को। शेरनी का दूध स्वर्ण-पात्र में ही टिकता है। पीतल या कांसे के पात्र में यदि लिया

गया तो वह फट जाएगा। उनमें दूध टिक नहीं पाएगा। वैसे ही यदि मानसिक अवस्था जर्जरित है तो कितना ही बोध दें, लग नहीं पायेगा। हम समझ ही नहीं पाएंगे, भेजे में ही नहीं आयेगा। उसे मस्तिष्क में उतार ही नहीं पाएंगे। इसलिए तीर्थंकरदेव फरमाते हैं पर्युपासना करो। पर्युपासना करने वाला श्रोता मन, वचन, काया की एकाकारता से सुनता है, तब मन आर्त भाव में नहीं जा सकता। क्या पूर्णतया शांत हो जाता है? एकदम सीधे ही शांत नहीं हो जाता। धीरे-धीरे मोड़ना पड़ता है।

धीरे-धीरे मोड़ तू इस मन को, इस मन को तू, इस मन को धीरे-धीरे मोड़॥

एकदम से वैसा नही कर पाएंगे। मन को सही तरीके से साधने का प्रयत्न करें। कोई दूर तक छलांग लगाना चाहता है तो एकदम सीधे नहीं लगा पाएगा, पर धीरे-धीरे अभ्यास करता रहा तो एक दिन लंबी छलांग भी लगा लेगा। इस प्रकार मन को साधने का प्रयत्न किया, और एकाग्र बन कर बैठे तो फिर कोई कारण नहीं कि आंखों में झपकी आ जाये। उस बालक ने आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. का उपदेश सुना और उसी दिन आचार्यश्री का ध्यान आकर्षित कर लिया। उन्होंने अनुभव कर लिया कि वह बालक सभी श्रोताओं में विशिष्ट था। आचार्यश्री को उसमें संवेग की ज्योति दिखाई दी। आचार्यश्री को मालूम पड़ा कि वह बालक साहिबलालजी का था, तो उन्होंने उनसे कहा- "यह दीक्षा ले तो अंतराय मत देना।" यह बात उन्होंने कैसे जान ली? संतों की दृष्टि निर्मल होती है। आचार्यश्री ने परख लिया कि जो आज वीतराग तत्त्वों को गहराई से पी रहा है वह भविष्य में उनका अनोखा प्रचारक बनेगा। पूर्व में भी भले शक्रेन्द्र के मन में आ गया हो कि भगवान् महावीर की छोटी-सी काया कैसे उतनी जलधार सहेगी, कैसे वे परीषह सहकर कर्म-विदारण करेंगे पर भगवान् महावीर ने चिटुड़ी (कनिष्ठा) अंगुली से मेरु को कंपा दिया। वैसे ही कोई सोच ले कि छोटी काया में रहने वाला क्या कर सकता है, पर आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. ने उस समय ही परख कर ली थी, और कह दिया था कि यह दीक्षा ले तो अंतराय नहीं देना। क्या आचार्यश्री को कोई ज्ञान हो गया? क्या देख कर जाना उन्होंने? उस समय तक तो कुछ हुआ नहीं था। बाद में शादी हो गई, धर्मपत्नी का वियोग भी हो गया, लड़की हुई, उसका भी वियोग हो गया।

आचार्यश्री जवाहरलालजी म.सा. का चातुर्मास उदयपुर में हुआ। संवत्सरी के दिन गणेशलालजी ने पौषध किया। आचार्यश्री की दृष्टि उन पर

टेकी। पूछा- नाम क्या है? उन्होंने बताया- गणेशलाल। पूछा- घर में कौन-कौन हैं? बताया कि माता का, पत्नी का, पुत्री का, स्वर्गवास हो चुका है महामारी की स्थिति से। आचार्यश्री ने कहा- फिर क्यों संसार में समय लगा रहे हो? उन्होंने कहा- भावना तो बनती है।

आचार्यश्री ने प्रश्न किया- "फिर क्या बात है?' गणेशलाल क्या बताते! बात तो बनी हुई थी। समय की बात थी और थोड़ी-सी प्रेरणा की बात भी थी। संवत्सरी को प्रेरणा मिली और मिगसर बदी एकम को दीक्षा हो गई। आज इतनी जल्दी दे दें तो कहेंगे महाराज को तो चेलों की भूख है। आचार्य जवाहर ने प्रेरणा दी, उन्होंने भी परख लिया तो था, किन्तु अपना शिष्य नहीं बनाया। शिष्य बनाया मोतीलालजी म.सा. का।

आचार्य जवाहर के धर्मगुरु थे पूज्यश्री मगनमुनिजी म.सा.। उस समय प्रकृति की कैसी लीला बनी! छोटी उम्र में माता-पिता का वियोग। फिर मामा ले गये तो उनका भी वियोग। ऐसे में लोग कह दें कि कालसर्पिणी योग में जन्मा होगा। मां-बाप और मामा को खा गया और दीक्षा ली तो गुरु का भी स्वर्गवास हो गया। आज तो न जाने क्या-क्या सुना देंगे। घर में बहू के आते ही यदि कोई ऐसी घटना हो जाये तो सासू कहेगी- तू तो कुलक्षणी है, तेरे पग पड़ते ही ऐसा हो गया। इतने ताने मारेगी कि बहू बेचारी का जीना मुश्किल कर देगी। बेचारी कुछ कहने का साहस भी नहीं कर पाएगी।

आचार्यश्री की दीक्षा के बाद गुरु का स्वर्गवास हो गया तो उनके मन में आया- अब कौन मुझे संयम में सहयोग देगा? कौन मेरी सारणा-वारणा-धारणा करवाएगा? पूज्यश्री मोतीलालजी म.सा. ने उस समय उन्हें संभाला। इतना आत्मीय स्नेह दिया कि वे मुनि अवस्था में समझ गये कि मेरी सारणा-वारणा-धारणा करने वाला भी कोई है और उस उपकार के प्रतिफलस्वरूप उन सुयोग्य शिष्य श्री गणेशलालजी म.सा. को उनका शिष्य बनाया। उस समय एक आचार्य का नेतृत्व, एक शिक्षा-दीक्षा-प्रायश्चित्त का विधान नहीं था। अलग-अलग शिष्य-परम्परा चलती थी। इसलिए गणेशलालजी को पू. श्री मोतीलालजी म.सा. का शिष्य बनाया गया। भले ही श्री मोतीलालजी म.सा. आचार्य पद पर नहीं आये हों, किन्तु उनका यशस्वी गौरवशाली इतिहास उनकी पद-गरिमा का आज भी साक्षी है।

मोतीलालजी म.सा. ने कभी यह भावना नहीं रखी कि मेरा चेला बना

दे, किन्तु उन्होंने स्वयं ही सोचा कि उनका मुझ पर जो ऋण है, मैं कितनी भी सेवा कर लूं, चुका नहीं सकता और उन्होंने सोचा कि मुझे इन्हें भी अमर करना है और पूज्य गणेशलालजी म.सा. को उनका शिष्य बना कर उन्हें भी साधुमार्गी इतिहास में सदा-सदा के लिए अमर बना दिया। पू.श्री गणेशलालजी म.सा. पू. जवाहराचार्य के साथ ही अपने गुरु की सेवा में जुटे रहे। यद्यपि उन्होंने संस्कृत के दुर्गम ग्रंथों का अध्ययन किया था, किन्तु उसके पश्चात् भी अहं से उनकी गर्दन टेढ़ी नहीं हुई। ज्ञान-गरिमा के बोझ से झुकी ही रही। कभी यह नहीं सोचा कि मेरे जैसा विद्वान जैन समाज में कोई नहीं है। उस समय जैन समाज में ऐसी संकीर्णता थी कि मुनियों को पंडितों से अध्ययन करना वर्जित था। किन्तु पू. जवाहराचार्य ने कहा- मैं अपने शिष्यों को अज्ञान में नहीं रखना चाहता। यदि वे व्याकरण का ज्ञान नहीं करेंगे, शब्द का अर्थ ही नहीं जानेंगे तो उन्हें तल-स्पर्शी ज्ञान कैसे होगा? इसलिए मैं अपने शिष्यों को अक्षर का ज्ञान करवाऊंगा। और बड़े संकल्प के साथ उन्होंने वैसा ही किया। इसके लिए उन्हें समाज का कितना विरोध भी झेलना पड़ा, किन्तु उन्होंने अपने दो मुनियों को अध्ययन करवाया। आज भले हम यह गलत रूप में पकड़ रहे हो, कि पंडितों से ही अध्ययन करना है, लेकिन आचार्य जवाहर ने यह भी कहा है कि संस्कृत-प्राकृत का ज्ञान पंडितों से हो सकता है, किन्तु आगम का ज्ञान पंडितों से नहीं हो सकता। वह गुरु से ही संभव है। क्योंकि आगम-अर्थ की परम्परा पंडित नहीं जानता है। वह परंपरा तो गुरु ही जानता है। यह बात भी जवाहराचार्य ने कही है।

आचार्य पूज्यश्री गणेशलालजी म.सा. की जन्म-जयंती के इस अवसर पर पूर्ववक्ता जिन भावों को प्रस्तुत कर गये हैं, यदि उनका समन्वय किया जाय तो यही कहना होगा कि उनके जीवन में सरलता, अनुशासनबद्धता, आज्ञा-पालन वृत्ति और धर्मानुराग का अनोखा संगम था। यह नहीं कि केवल दूसरों को चलाने की चिन्ता हो, यद्यपि चलाना सहज नहीं है। पहले स्वयं को चलना पड़ता है। यदि हमने चलना सीख लिया है तो ही दूसरा सीख सकता है। हम स्वयं नहीं चलें तो दूसरा कभी चल नहीं पायेगा। पू.श्री गणेशलालजी म.सा. के जीवन के बारे में हमने पू. गुरुदेव (आचार्यश्री नानालालजी म.सा.) के मुंह से सुना है कि यदि पूज्य जवाहराचार्य कह देते कि धूप में खड़े रह जाओ और जब तक न कहें वहां से हटना नहीं, यदि दिन को कह दें- रात है तो मान लेना तो श्री गणेशाचार्य वैसा ही करते। आज यदि ऐसा कह दें तो कहेंगे- यह तो अंधश्रद्धा

है। मैं एक बार पहले भी कह चुका हूं कि श्रद्धा में आंख नहीं होनी चाहिये। हमारा हृदय पैक होता है, तभी काम करता है। तभी ब्लड सर्क्युलेशन बराबर करेगा। यदि उसमें छेद हो जाय तो हृदय सही ढंग से काम नहीं करेगा। जैसे हृदय पैक रहता है वैसे ही श्रद्धा पैक है तो सर्क्युलेशन निर्बाध होगा और यदि उसमें आंख कर दी और देखने लग गये तो गुरु के प्रति संशयशील बन जाओगे, तीर्थंकरदेवों के प्रति संशयशील बन जाओगे, सोचिये, यह कैसी वीतरागता होगी- सिंहासन पर बैठे हैं, चंवर डुलाये जा रहे हैं। आंख है तो वहां भी संशय होगा। आंख हैं तो खून में श्रद्धा का सर्क्युलेशन निर्बाध नहीं होगा। जैसे हृदय पैक है वैसे ही यदि श्रद्धा भी पैक है तो वीतराग-वाणी का सर्क्युलेशन सही होगा। मन उचाट नहीं होगा। किन्तु जब आंख बन जाती है तो वह कुछ का कुछ देखने लग जाती है। गुरुजनों के भी छिद्र देखने लगती है। शास्त्रकार कहते हैं- णो सिया तोत गवेसए। किन्तु आंख बन गई, तो वैसा नहीं हो- यह असम्भव है। एक शिष्य ने देखा- गुरु के पास चमत्कारी डंडा है यदि ऐसे उठा कर ले गया तो भी ठीक नहीं, तो करो सेवा। मन में है कि डंडा तो लेना है, खूब सेवा की। एक दिन गुरु ने पूछ लिया- तू क्या चाहता है? मन में सोचा- बोलूं कैसे? यदि ना कर दिया तो? मुंह से कहूं भी नहीं और चाहिये भी दोनों बाते कैसे संभव हैं? अंततोगत्वा कह दिया- गुरुदेव! आप प्रसन्न हैं तो मैं वह डंडा चाहता हूं।

गुरु- क्या करोगे?

शिष्य- देना है तो, दे दीजिये, क्या करोगे, यह मत पूछिये। आपने पूछा था कि क्या चाहता है, तो मैंने बता दिया। कह रहे हो, तो दे दो।

गुरु- मैं तुम्हें अलग नहीं समझता, पर देख, दूसरों पर इसका प्रयोग मत करना। यह जादुई डंडा है। जिसके माथे पर रखोगे उसके दुर्गुण अंकित हो जायेंगे, जैसे टी.वी. पर चित्र अंकित होते हैं।

अब सोचिये कि पहले तो जाति ही बंदर और फिर उसे पिला दी शराब, तो नशा तो आयेगा ही। वैसी ही हालत उस शिष्य की भी हो गई।

स्थानांग सूत्र में कहा गया है- अल्पसत्त्व को ज्ञान दिया तो वह भी साधना में बाधक बनेगा, वह नमेगा नहीं। यदि उसके चेले ज्यादा हो गये, शक्ति बढ़ गई तो वह शक्ति का प्रदर्शन करने लगेगा। ये उसकी साधना में व्यवधान पैदा करेंगे। गुरु ने उस शिष्य से कहा तो सही किन्तु उसके तो भाव हिलोरे लेने लगे। डंडा पास में लेकर बैठा था, सोच रहा था कि प्रयोग करके तो देखूं। आने

वाले श्रावकजी ने - तिक्खुत्तो आयाहिणं, पयाहिणं करेमि....। तीन बार आवर्तन देकर वंदना की। ध्यान रखिये, वंदना भी विधिपूर्वक होनी चाहिये, चाहे वंदना करने वाला साधु ही क्यों न हो? ब्यावर गुरुकुल के खिंवेसराजी इन सभी धार्मिक क्रियाओं का बहुत ध्यान रखते थे। वे आचार्यश्री जवाहर के समर्पित एवं निष्ठावान श्रावक थे। उन्होंने आचार्य जवाहर की दुर्लभ वाणी की महिमा समझी। उन्होंने नई लिपि का आविष्कार किया और उसका अपने छात्रों को अध्ययन करवाया। फिर उनकी परीक्षा ली और जो उसमें उत्तीर्ण हुए उन्हें व्याख्यान-लेखन का काम सौंपा। यह "जवाहर किरणावली" का भंडार कैसे उपलब्ध है? यह उनकी ही देन है। उन्होंने समझ लिया था कि उनकी वाणी का अमृत समय निकलने के बाद मिलने वाला नहीं था अतः उस अमृत को घट में भरने का कार्य किया।

आचार्य जवाहर की दृष्टि से कोई भी क्षेत्र अछूता नहीं रहा। उन्होंने चारों तरफ अपनी निगाह डाली, चाहे वह सामाजिक क्षेत्र हो, पारिवारिक या राष्ट्रीय क्षेत्र हो या धार्मिक क्षेत्र हो। आपको क्या बताऊं? उनके योगदान को समेटने में भी कठिनाई होती है। आज हम केवल गुणगान करते हैं। गर्व कर लेते हैं कि बहुत अच्छी बातें हैं, पर उनपर कदम बढ़ाने को तत्पर नहीं हो पाते।

हम तो उसी शिष्य की तरह करने को तत्पर रहते हैं। जैसे ही वे श्रावकजी वंदन करने लगे, शिष्य ने डंडा फेरा। विचार कीजिये छद्मस्थ हैं तो त्रुटि किसमें नहीं होती? जहां गुण है वहां दोष भी होते हैं। पर आपको क्या बीनना है? स्वयं को किससे भरना है? जिसकी दृष्टि दोष की है तो वह दोष ही देखेगा। शिष्य ने सारा चित्र टी.वी. पर देख लिया- दोष ही दोष। अरे! ये इतने बड़े धर्म के ठेकेदार, धर्म के धोरी! पर मुनि की दृष्टि में अब वे श्रावक नहीं रहे। एक दूसरे त्यागी-वैरागी श्रावक आये, डंडा फेर दिया। और १,२,५,१० आदि दिन-भर में जितने लोग आये, सब में दोष ही दोष! इसका जीवन इतना असंतुलित! उसके जीवन में इतने दोष! ऐसे में दिन निकल गया। शाम को प्रतिक्रमण का समय, गुरुजी अनुज्ञा लेने के लिये वंदन करने लगे। उसने देखा, जरा गुरुजी को भी तो देख लूं। वहां घुमाया तो वहां भी कुछ-न-कुछ मिल गया। अरे! ये भी दोषों से युक्त हैं! अब क्या किया जाय? श्रद्धा में आंख हो गई!

श्रद्धा में आंख हो गई तो बेड़ा पार नहीं होगा, बेड़ा गर्त में चला जायेगा। गुरु समझ गये, झपट कर डंडा लिया। ठहर! दिन-भर तूने बहुत

घुमाया, अब अपने-आप पर घुमा कर देख! गुरु ने घुमाया वह डंडा- एक बार, दो बार.......डंडा, दोषों से भर गया पर अन्त आवे ही नहीं! तूने दिन-भर घुमा-घुमा कर सारे दुर्गुण अपने-आप में भर लिये।

श्रद्धा में आंख बन जाय तो दोष दिखने लग जाते हैं। किन्तु आचार्य जवाहर ने कहा कि मैं गणेशलालजी को कहूं दिन है और हो रात, कहूं रात और हो दिन, तो भी वह हां कहेगा तो उसका भी कारण है। वह समझ लेगा कि गुरु किसी आश्य से कह रहे हैं। हो सकता है, दिन हो उस समय रात हो जाय क्योंकि ज्ञान नहीं है तो वहां दिन में भी रात्री का अंधकार है और हो सकता है रात्रि है वहां दिन हो जाय। क्योंकि ज्ञान का प्रकाश प्राप्त हो जाय तो अंधेरी रात्रि भी दिन बन जाती है। मृगावती को अंधेरी रात में जब केवलज्ञान प्राप्त हो गया तो उसके लिये फिर रात नहीं रही वैसे ही गुरु-वचनों का आशय क्या है, यह हम नहीं समझ सकते इसलिए वहां तक पहुंचने की कोशिश भी नहीं करनी चाहिये। जब हमारे ये आवरण हटते चले जाएंगे तब गुरु के इंगित-इशारे भी हमारे में प्रकट होते जाएंगे। हम जानते हैं कि एक व्यक्ति तो ड्राइविंग सिखाने वाले से ड्राइविंग सीखता है और एक खलासी ड्राइवर के पास बैठ कर और उसके साथ रहकर स्वयं ड्राइविंग सीख जाता है और ड्राइवर बन जाता है। इसी प्रकार वकील को वकालत सीखने के लिए दूसरे वकील के पास उसके हाथ के नीचे रहना पड़ता है। जैसे उन्हें अभ्यास करना होता है वैसे ही गुरु के संकेत, गुरु के सामीप्य में रहकर समझना, शिष्य भी सीख जाता है।

बंधुओ। चिन्तन करें तो समझ जायेंगे कि जैसे वहां डंडा था यहां डंडा हमारा मन है। उस मन से गुण लेना चाहे तो गुण और दोष लेना चाहें तो दोष ले सकते हैं। मन मिला है तो अपने अवगुण दूर करने का प्रयत्न करें तभी जीवन को सही धरातल पर ले जाने का प्रयत्न कर पाएंगे।

जलगांव का प्रसंग है। आचार्य जवाहर के हाथ में फोड़ा हो गया। घाव जहरीला था। उस समय वर्धमानजी पितलिया वहां पहुंचे। सारी स्थिति देखी और अनुमान किया कि शल्य चिकित्सा करवानी होगी। जहरीला छाला था चिकित्सकों ने आगाह कर दिया था कि फोड़े पर शस्त्र लगते ही जहर सारे शरीर में फैल भी सकता है। अतः भविष्य का भी कुछ निर्धारण करना था। आचार्य श्री से निवेदन किया तो उन्होंने पं. मुनि श्री गणेशीलाल जी म. सा. का नाम निर्दिष्ट किया वहां से वे पंडितरत्न श्री घासीलालजी म.सा. के पास गये और कहा- आज

एक घोषणा पत्र/अधिकार पत्र बनाइये। वे अच्छे विद्वान थे, जिन्होंने संस्कृत में टीकाएं लिखी थीं। उन्होंने कहा- पत्र लिखना मुझे नहीं आता है। तब (पितलियाजी) ने कहा- मैं लिखाता हूं, आप लिखिये। और उन्होंने अधिकार पत्र लिखवा दिया। बात प्रकट हो गई कि पूज्यश्री गणेशलालजी को पूज्य जवाहराचार्य का अधिकार सौंपा जायेगा। तो वहीं से उनके मन में वैमनस्य पनपने लगा। आंटे चलने लगे। क्लेश की स्थिति भी बनी। पू. जवाहराचार्य के ऑपरेशन की स्थिति बनी थी, स्वास्थ्य ठीक हो गया और फिर देखा कि वैसी कोई स्थिति नहीं रहीं थी तो उन्होंने सोचा क्यों वैमनस्य बढ़ायें। अतः उन्होंने वह पत्र फाड़ दिया। आज यदि ऐसी स्थिति बने तो बात बिगड़ सकती है। कहेंगे कि पहले तो आपने नाम उछाला, और बाद में समाज में इज्जत दो कौड़ी की भी नहीं रखी। किन्तु गणेशलालजी म.सा. कुछ भी नहीं बोले। उन्होंने नहीं कहा कि पहले तो ऊंचा उछाला, और बाद में पत्र फाड़ डाला। उन्होंने कोई विरोध नहीं किया। मान लिया कि यह तो अधिकार है महापुरुषों का। 'यह होती है साधना।' धीरे-धीरे यदि हमने मन को साध लिया तो फिर कैसा भी प्रसंग आंये, मन ऊंचा-नीचा नहीं होगा। इसे कहते हैं संवेग, जिसके आ जाने पर आवेग समाप्त होते नजर आते हैं।

अजमेर में वृहत् साधु-सम्मेलन का प्रसंग बना सन् १९३३ में। वहां आचार्य जवाहर भी प्रतिनिधि के रूप में पधारे थे। किन्तु जब उन्होंने वहां की स्थिति देखी कि वहां एकलविहारी भी प्रतिनिधि के रूप में शामिल थे तो उन्होंने कह दिया कि मैं यहां प्रतिनिधि के रूप में शामिल नहीं होऊंगा। आप चाहें कि मैं यहां बैठूं तो बैठूंगा, अन्यथा बाहर भी रह सकता हूं। यहा साधु-समाचारी के जो नियम बनेंगे और यदि वे संयमी जीवन के लिए हितकारी होंगे तो मैं अपनी सम्प्रदाय में उनका पालन करवाऊंगा। सभा में उनकी उपस्थिति के महत्व का अंकन करते हुए उन्हें सलाहकार के रूप में सम्मेलन में रखा गया। उन्होंने वहां एक योजना भी प्रस्तुत की। उन्होंने कहा कि यदि हम स्थानकवासी समाज को उन्नत देखना चाहते हैं तो एक नेतृत्व में संघ चलाने की व्यवस्था करें तभी संघ की शान बढ़ेगी। यदि ऐसा नहीं होगा और अलग-अलग चेले होंगे तो हर चेला सोचेगा कि मेरे गुरु के दो चेले हैं तो मैं भी अपने दो तैयार कर लूं। और यदि उसके दो चेले हो गये तव तो उसके पंख आ जायेंगे। फिर वह क्यों गुरु की आज्ञा मानेगा? दो बना लिये, उन्हें ले कर चला, निर्वाह हुआ तो ठीक, नहीं

तो फिर बिखराव। इस प्रकार टुकड़े-टुकड़े होंगे। मूर्धन्य मुनिराजों ने कहा- जैसा आपका नाम जवाहर है वैसा ही आपका चिन्तन भी है, पर हम पहली बार मिले हैं, इतनी तैयारी भी नहीं है कि सारे के सारे एक नेतृत्व बना लें। इसके लिए समय की आवश्यकता होगी, वातावरण बनाना होगा। वातावरण भी बना। इस प्रकार जो बीज अजमेर सम्मेलन में डाले गये थे उन्हें पौधा बनने में १६ वर्ष लग गये। संवत् २००६ में सादड़ी (मारवाड़) में पुनः सम्मेलन हुआ। वह सम्मेलन पू. गणेशाचार्य की 'शांति-रक्षकता' में प्रारंभ हुआ। आपके यहां अध्यक्ष होता है किन्तु वह लौकिक पद है इसलिए वहां नाम दिया गया 'शांति-रक्षक'। वहां सभी संप्रदायों का विलीनीकरण किया गया और नया संघ स्थापित किया- वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ।

वहां आचार्य पद का चयन होना था। प्रतिनिधि मुनिराजों की मीटिंग चल रही थी। रात्रि प्रतिक्रमण के बाद का समय था। सभी प्रतिनिधि मुनि बैठे थे। पूज्यश्री हस्तीमलजी म.सा. खड़े हुए और कहा- इस श्री वर्धमान स्थानकवासी जैन श्रमण संघ के रूप में जो नया संघ गठित हुआ है इसके संचालन के लिए मैं जैन जगत् के जाज्वल्यमान नक्षत्र पू.श्री गणेशलालजी म.सा. का नाम प्रस्तावित करता हूं। उनके मुंह से ज्योंही गणेशाचार्य के नाम का उच्चारण हुआ कि वहां जितने प्रतिनिधि बैठे थे, सभी ने सर्वानुमति से हाथ खड़ा कर ध्वनिमत से समर्थन दे दिया। उस समय पू.गणेशाचार्य ने कहा-" ठहरिये, मुझ से पूछे बिना कैसे मेरा नाम ले लिया? "श्री हस्तीमलजी म.सा. ने कहा- "यह आपका विषय ही नहीं है। आपसे कैसे पूछें, आप कैसी बात कह रहे हैं? सर्वानुमति से प्रतिनिधिमंड़ल एकमत से कह रहा है।" उन्होंने कहा- 'मेरी वृद्धावस्था है, स्वास्थ्य भी अनुकूल नहीं रहता, ऐसी स्थिति में इतने विराट् संघ का संचालन करने में मैं समर्थ नहीं हूं। आप किसी युवक मुनि को खड़ा करें, मैं उसकी आज्ञा को भगवान् महावीर की आज्ञा मानूंगा। हमें संघ को सबल बनाना है।' उन्होंने कहा- युवक मुनिजन की आज्ञा का पालन कर हम बता देंगे कि आचार्य की आज्ञा का पालन कैसे किया जाता है। 'ये थे श्री गणेशाचार्य के उदात्त विचार'। प्रतिनिधि मुनियों ने कहा- जहां एक संप्रदाय के चयन की वात आती है तो वहां भी झगड़े-टंटे हो जाते हैं। वहां भी सभी तैयार नहीं होते। कोई साधु अड़कर रह जाता है। यहां तो अनेक सम्प्रदायों के प्रतिनिधि सर्वानुमति से चयन कर रहे हैं।

आज लोकेषणा में पड़कर पद के पीछे व्यक्ति न जाने क्या-क्या कर

लेते हैं पर क्या पद के मिल जाने से कल्याण हो जाता है? और यदि अल्पसत्त्व वाले को पद मिले तो वह भी उसके लिए दुःखदायी हो सकता है, जैसे बंदर को शराब पिला दें तो वह उसके लिए भी दुःखदायी हो जाती है। पर गणेशाचार्य ने उस समय सभा बरख्वास्त कर दी और जब अध्यक्ष ही सभा बरख्वास्त कर दे तो फिर कौन क्या कर सकता है? रात्रि के दस बज चुके थे। सभी अपने-अपने स्थान पर चले गये। रात्रि के दो बजे थे, जैसा कि मैंने पूज्यश्री गुरुदेव (आचार्यश्री नानालालजी म.सा.) से सुना है कि पूज्यश्री मुनिराज एक-एक करके आते रहे और पूज्य गणेशाचार्य पर दबाव डालते रहे कि यदि आप नहीं मानेंगे तो तीन काल में भी यह स्थिति नहीं बनने वाली है। आप कहते हैं किसी युवा को आचार्य बनाओ किन्तु हम जवान का नाम लें तो कई वृद्धों को विश्वास नहीं होता। किसी वृद्ध का नाम लें तो जवान तैयार नहीं हो पाते, पर आपके नाम पर कोई मतभेद नहीं है, इसके बावजूद वे तैयार नहीं। फिर नया विकल्प आया कि श्री आत्मारामजी म.सा. को सम्मान की दृष्टि से आचार्य पद दे दिया जाय। उनकी आंखों की रोशनी यद्यपि पूरी नहीं है, वे लगभग प्रज्ञाचक्षु हैं अतः वे विराट संघ की संचालन नहीं कर पाएंगे, पर उनको सम्मान की दृष्टि से रखा जाय और संघ-संचालन का सारा अधिकार आचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. को सौंपा जाय? इसमें एक आचार्य के नेतृत्व का उद्देश्य गौण हो रहा था। अतः तय हुआ कि आचार्य आत्मारामजी म.सा. को सम्मान का पद दिया जाय और आचार्य पू.श्री गणेशलाल जी म.सा. को संघ-संचालन के सारे अधिकार देते हुए अलग-अलग पहचान के लिए उन्हें उपाचार्य कहा जाय। कवि श्री अमरचन्दजी म.सा. ने कहा- आपके पीछे हमारी पूरी फौज खड़ी है, आपके आदेशों की अनुपालना होगी। और आचार्यश्री को उन मूर्धन्य मुनिराजों के सामने मौन धारण करनी पड़ी। दूसरे दिन बड़े उल्लास भाव से मीटिंग हुई जिसमें एक गायन सभी ने सम्मिलित स्वर में गुंजाया-

थाने मनावां गणपति देवता......।

हम आपको मना रहे हैं और विरुद विनायक आप यदि नहीं बैठे तो शादी कैसे होगी? गणपति को मना कर सभा का कार्यक्रम सम्पन्न हुआ और निर्णय हुआ कि वैशाख शुक्ला अष्टमी को आचार्य पद की चादर ओढाई जाय। हालांकि श्री गणेशाचार्य नाम से वे उपाचार्य थे, पर कवि श्री अमरचन्दजी म.सा, श्री मिश्रीमलजी म.सा. आदि ने वहां जो वक्तव्य दिया, उसमें उन्हें आचार्य पद

से संबोधित किया। उन्होंने कहा कि जैसे राजस्थान बनाते समय महाराजप्रमुख व राजप्रमुख के पद निर्धारित किये गये थे, महाराजप्रमुख सम्मान का पद था कार्यभार राजप्रमुख के जुम्मे था। वैसे ही कार्यभार आप पर है। आचार्य आत्मारामजी म.सा. को सम्मान का पद दिया गया है। हमें प्रसन्नता है कि आपने इसे स्वीकार किया।

इस प्रकार सारे कार्यक्रम हुए। ये सारे विवरण जब मैं देता हूं तो लोग पूछते हैं कि क्या आप वहां मौजूद थे? मैं मौजूद तो नहीं था किन्त आचार्यदेव से जो-कुछ वर्णन सुना है और जो कार्यवाईयां वहां हुई थीं, वे बोलती हुई कार्यवाईयां थीं। उनकी बहुत-सी लिखित सामग्री भी है, तो उसके आधार पर ऐसा चित्रण किया जा सकता है। ऐसे आचार्यदेव को श्रमण संघ की सत्ता और उस पर अधिकार सौंपा गया। अनेक सम्प्रदाय विलीन हुए और ११४१ साधु-साध्वियों का नामांकन हुआ। जहां निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की सुरक्षा का प्रसंग आया तो वहां उन्होंने यह नहीं सोचा कि मुझे तो राजप्रमुख का ११४१ का नेतृत्व मिला है इसे मैं क्यों छोड़ू। बल्कि उनका यह सोच था कि नहीं चाहिए मुझे नेतृत्व। मुझे अकेला रह कर साधना करनी मंजूर है किन्तु नाम धरा करके मनमाने तरीके से जो हो वह होने दो, जो चले वो चलने दो, ऐसा मंजूर नहीं। उन्होंने जो व्यवस्था दी, वह मन से नहीं दी थी। हालांकि उन्हें अधिकार था। तब कुन्दनमलजीसा पिरोदिया, बम्बई धारासभा के स्पीकर व जो समाज के अध्यक्ष थे, ने कहा- जो पाली की घटना घटी है उसकी आपको व्यवस्था देनी है। आचार्यश्री ने कहा कि यह प्रांत के मंत्रियों का अधिकार है, जो उनके प्रवर्त्तक हैं, वे व्यवस्था दें। पिरोदियाजी ने कहा- आचार्यश्री, वे कुछ करलें ऐसा लगता नहीं है। आपको ही व्यवस्था देनी है। हमें तो अभी भी नीचा देखना पड़ रहा है। आपने व्यवस्था नहीं दी तो हमारी नजरें ऊंची उठ नहीं सकती। आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. का पत्र आया कि आपको सारे अधिकार है ही और मैं भी आप से निवेदन करता हूं कि आप इस विषय को हाथ में लें और यथायोग्य व्यवस्था दें। इतनी बातें आने के बाद उन्होंने विषय को हाथ में ले लिया। जो दोषी संत थे उनकी आलोचना सुनी और जैसे आपके कानून की धारा, उपधारा होती है वैसे ही उन्होंने प्रतिनिधि मुनियों से सलाह ली कि अमुक-अमुक प्रकार का दोष सेवन हो जाय तो उसके लिए क्या प्रायश्चित्त हो सकता है? उनकी तरफ से परामर्श प्राप्त हुआ, उन सभी को सामने रखा जिसमें मुख्य रूप से काम करने

वाले तीन संत थे- उपाचार्यश्री गणेशलालजी म.सा., उपाध्यायश्री हस्तीमलजी म. सा. एवं पंडितरत्न मुनिश्री नानालालजी म.सा.। इस प्रकार व्यवस्था को सामने रखते हुए उपाध्यायश्री से परामर्श करते हुए व्यवस्था का सूत्रपात किया। पूज्य गणेशाचार्य फरमाते थे और उपाध्यायश्री लिखते थे। यह व्यवस्था पत्रक प्रतिनिधि मुनियों के पास भेजा गया। सभी के उत्तर भी आ गये कि आपने जो व्यवस्था दी है, हम उसे दिल से स्वीकार करते हैं। इस पर पू. गणेशाचार्य ने आ. श्री आत्मारामजी म.सा. को लिखाया कि मैंने इधर के संतों की आलोचना सुन कर प्रायश्चित्त दे दिया है, पर आपके पास ज्ञानमुनिजी हैं उनका भी सम्बन्ध जुड़ा हुआ है। आपश्री उनकी आलोचना ले कर शुद्धिकरण कर दें। वह पत्र ज्ञानमुनिजी के हाथ पड़ गया और उन्होंने आचार्य श्री आत्मारामजी म.सा. के नाम से समाचार जाहिर कर दिये कि जो व्यवस्था उपाचार्य श्री ने दी है वह आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. को स्वीकार नहीं है। जबकि आचार्यश्री का पत्र पूर्व में ही आ चुका था कि आपके द्वारा व्यवस्था स्वीकारना है। आप कहेंगे- क्या साधु-जीवन में भी ऐसी स्थिति बन सकती है? बंधओ! जहां ग्रुपिंग की अवस्था बन जाती है तो वहां ऐसा होना भी असंभव नहीं।

जावरा में कॉन्फरेन्स का जो शिष्टमंडल उपस्थित हुआ। उसमें बड़े-बड़े वकील भी थे। पूज्य गणेशाचार्य की तबीयत ठीक नहीं थी। डॉक्टरों ने बोलने को मना किया था। फिर भी आचार्यश्री ने बात की। उन्होंने सारे रिकार्ड दिखाये। वकीलों ने कहा- गजब की व्यवस्था दी गई है। जनतांत्रिक प्रणाली से इतनी सुन्दर व्यवस्था तो हम भी एक बार नहीं दे सकते जितनी व्यवस्था इन्होंने दी है। फिर उनसे कहा गया- यदि इसमें हमारी कमी/खामी हो तो बताओ हम उसमें सुधार करगें। उन्होंने कहा- आपकी कोई कमी नहीं है पर जहां कमी रही है, वहां हम बात करना चाहते हैं। इसलिए हमें इन पत्रों की प्रतियां चाहिए। समाज की तरफ से काम करने वाले पं.लालचन्दजी मुणोत ने उनको प्रतियां उपलब्ध कराई। नेताओं ने विचार किया कि अध्यक्ष श्री पिरोदियाजी की तबीयत ठीक नहीं रहती है। अतः इन रिकार्डों के आधार पर चिंतन कर 1 माह बाद लुधियाना चलकर जो रुकावट आई है उसका सुधार करने का प्रयत्न करेंगे। तदनुसार एक माह तक उन्होंने पत्रों का अध्ययन किया। पुनः वे लोग उपस्थित हुए तब आचार्यश्री ने कहा- पं.रत्न श्री नानालालजी म.सा. ही मेरी तरफ से आपसे सारी बातें करेंगे वे लोग मुनिश्री नानालालजी म.सा. के पास पहुंचे और

कहा- हम आपसे बात करेंगे। आप जो कहेंगे वह उपाचार्यश्रीजी का कथन माना जायेगा। तव मुनिश्री ने कहा- मैं उन महापुरुष की हैसियत से बात कर नहीं सकता। मैं अपनी हैसियत से बात कर सकता हूं। कोई भी बात अधूरी रह गई उपाचार्यश्री मालिक हैं, वे जो फरमाएंगे वह सबको मंजूर है। मुनि श्री नानालालजी के समक्ष उन्होंने जो-जो बातें रखी, प्रायः सभी का समाधान हो गया। एकमतता बन गई। एक बात में मुनिश्री का फरमाना था कि वह भी साथ की साथ हो जाय। तब उपस्थित शिष्टमंड़ल ने कहा- अभी इस बात को गौण रखा जाय। लेकिन पं. रत्न श्री नानालालजी म.सा. ने कहा- मैं तो गौण रखना नहीं चाहता फिर उपाचार्यश्री जी जैसा उचित समझे। शिष्टमंड़ल ने विचार किया अभी उपाचार्यश्री की तबीयत ठीक नहीं है। विशेष बात कर नहीं सकते सामान्य में वे अपने शिष्य की बात ही मानेंगे इसलिए फिलहाल लुधियाना का टिकट कैंसिल करवा दिया जाये। ऐसा सोच कर वे आचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. की सेवा में उपस्थित हुए और सारी बातों का निवेदन कर दिया। आचार्यश्री ने कहा- पंडित-रत्न श्री नानालालजी जो कह रहे हैं, उस पर मक्कम रहना चाहिये। उसका समाधान भी साथ का साथ हो जाना चाहिए पर आप संघ के नेता हैं। आप इस बात को अभी उठाना नहीं चाहते, अभी गौण रखना चाहते हैं और भविष्य में निराकरण करना चाहते हैं तो मैं भी इसे गौण करता हूं। वहां सुनने वाले संघ-प्रमुखों में हर्ष छा गया। सबके चेहरे प्रफुल्लित हो गए। सोचा- अपने शिष्य की बात छोड़कर हमारी बात स्वीकार कर रहे हैं। संघ-प्रमुखों में प्रसन्नता की लहर दौड़ गई और एक प्रकार से नाचने/तालियां बजाने जैसी स्थीति बन गई। शिष्टमंडल ने टिकट कैंसिल नहीं करवाया। वह शिष्टमंडल लुधियाना पहुंचा। वे आचार्यश्री से बात करना चाहते थे, पर ज्ञानमुनि करने नहीं दे रहे थे। जवाहरलालजी मुणोत सा. पीछे रहने वाले नहीं थे और उनके मुंह से निकल गया- महाराज! आप हमें बात करने नहीं देना चाहते हैं। आपका दुखता माथा है पर बताते पेट हो। इतना कहने से वातावरण उग्र बन गया और शिष्टमंड़ल निराश होकर लौट गया। इन सारी स्थितियो में आचार्यश्री गणेशीलाल जी म. सा. ने अपनी स्थिति स्पष्ट करदी और फरमाया कि जो व्यवस्था मैंने दी है उसका पालन उसी रूप में हो। जो उसका पालन करेगा उससे तो मेरा सांभोगिक संवंध रहेगा और जो पालन नहीं करेंगे उनके साथ मेरा सांभोगिक संवंध नहीं रहेगा।

ऐसे महापुरुष थे श्री गणेशाचार्य जिन्होंने अपने जीवन की सांध्यवेला में एक क्रांतिकारी कदम उठाया। क्रांति तो की, पर शांत रूप से। धूम-धाम,

लड़ाई-झगड़े से नहीं, किन्तु साधु-मर्यादा में रहते हुए वर्धमान स्थानकवासी श्रमण संघ की वैधानिक कार्यवाही के अन्तर्गत व्यवस्था दी। ऐसी वह विभूति थी, जिसके गुणों का वर्णन कठिन है और सारा किया भी नहीं जा सकता। मैंने जो-कुछ कहा है स्तुति के रूप में कहा है। मुथा सा का कहना था कि हमें तो ठाठ से मनाना है उस जाज्वल्यमान नक्षत्र की जन्म-जंयती। नक्षत्र कहां आता है? (प्रतिध्वनि-आकाश में) उसे नक्षत्र क्यों कहा गया? जो नभ में रह कर "क्षतं त्रायते" रक्षा करे। जो जैन जगत् के सिद्धान्तों, वीतरागदेव के सिद्धान्तों की रक्षा करने में तत्पर रहे। इस तरह एक प्रकार से नक्षत्र के रूप में उन्होंने अपना अवदान दिया। हमें समझना है, हम उसे कितना ग्रहण कर पाए हैं? यह तो हमारे क्षयोपक्षम पर निर्भर है। उस समय मंदिरमार्गीय परम्परा से एक पत्र निकलता था 'हितं मितं सत्यं' जिसके सम्पादकीय में लिखा था हालांकि मैंने उनके दर्शन नहीं किये हैं, पर जो कदम उन्होंने उठाया है, निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की रक्षा के लिये उठाया है। वे सजग हैं ओर उन्होंने अपनी आत्मा को कलुषित होने से बचा लिया है। तो मैं कहूंगा यह वीर वसुन्धरा वीरों से रहित नहीं हुई है। हम सबको चाहिये कि निर्ग्रन्थ श्रमण संस्कृति की रक्षा में तत्पर रहें और उसे विखंडित करने के किसी भी प्रयत्न का दृढ़ता से विरोध करें। हम ऐसा संकल्प यदि करें तो ही उनका जन्मदिवस मनाना सार्थक होगा। हम उनसे प्रेरणा लें और तद्नुसार कार्य करें तो आवेगों का संवेगों में तो रूपान्तरण होगा ही, हमारा जीवन भी धन्य होगा।

❑❑

संवेग का सुफल

पढ़के ज्ञान प्राप्त करना है, या प्रकट करना है। हम पुस्तकें पढ़ते हैं और कक्षाओं में भी अध्ययन करते हैं। इस प्रकार बहुत-कुछ ज्ञान प्राप्त भी कर लेते हैं, किन्तु जब तक राग-द्वेष की गांठ पड़ी है और जब तक उसका विशोधन नहीं किया जाता तब-तक सही ज्ञान भी प्राप्त नहीं हो सकेगा। जब तक राग-द्वेष आत्मा में रहेंगे तब तक संवेग भी उपस्थित नहीं हो सकते। इस प्रकार जब तक राग-द्वेष की ग्रंथि का भेदन नहीं होगा तब तक सम्यक् ज्ञान भी प्रकट नहीं हो पायेगा। राग-द्वेष की ग्रंथि दुर्भेद्य ग्रंथि है, बड़ी कठिनाई से उसका भेदन होता है। कठिनाई इसलिये है कि जब तक हमारे नेत्र खुले हैं तब तक हम उसे देख नहीं सकते हैं और इस कारण उसके स्वरूप का ज्ञान भी नहीं कर पाते हैं। इसीलिए उसके भेदन में कठिनाई आती है। परिणाम यह हुआ है कि अनादिकाल से चली आ रही अपनी इस यात्रा में हम यदि कभी किनारे पहुंचते भी हैं, तो भी भेदन नहीं कर पाते हैं। ग्रंथि-देश तक हमारी आत्मा बहुत बार आई है पर भेदन हो नहीं पाया और भेदन नहीं हो सका इसलिये उस समय तक जितना भी पुरुषार्थ किया वह सारा का सारा सार्थक नहीं हुआ। तीर्थंकर देवों ने तो यहां तक कहा है कि चाहे मास-मास खमण की तपस्या कर लो पर ग्रंथि का भेदन नहीं करे तो वह तपस्या भी आत्मशुद्धि में सहायक नहीं बन सकती। कई कोई कहते हैं कि मिथ्यादृष्टि के भी कोई-कोई अच्छे गुण हैं उन्हें निर्जरा के रूप में होने से धर्म के अन्तर्गत लेना चाहिये। उनका तर्क होता है कि चाहे ग्रंथि का भेदन न हुआ हो, किन्तु तपस्या अच्छा गुण है तो उससे आत्मशुद्धि क्यों नहीं होगी? आत्मशुद्धि कैसे होगी क्योंकि केवल तपस्या से तो आत्म-शुद्धि नहीं होती।

समझने की बात यह है कि यदि पहले मूल को ही पकड़ा नहीं गया, तो केवल ऊपर-ऊपर से उस अवस्था को ठीक नहीं किया जा सकता। होने के

फसल में यदि जड़ में कीटाणु लग गये हैं तो ऊपर के पत्तों का कितना भी सिंचन करो, कितनी खाद दे दें, पर यदि जड़ को नहीं संभाला तो पौधा नहीं पनपेगा, समाप्त हो जावेगा। वैसे ही हम कितनी ही तपस्या कर लें किन्तु पौध, नहीं फूटेगी, क्योंकि जमीन बहुत सख्त है। वहां पौध तो आ गई पर कीटाणु लग गये हैं। या दूसरे रूप में लें कि जैसे आपके मकान में पक्का फर्श है, उसमें बीज डाल दें तो अंकुर नहीं फूटेगा। वैसे ही हमारे राग-द्वेष की फर्श इतनी सख्त है कि कितने ही तप के बीज डाल दें, पर अंकुर नहीं फूटेगा, पौध नहीं पनपेगी, अतः फल नहीं मिल पाएंगे। इसलिए आवश्यक है कि पहले उस ग्रंथि को भेदन किया जाय।

भगवान् से पूछा गया-

संवेगेणं भंते जीवे किं जणयइ...

संवेग से किस फल की प्राप्ति होती है? तो उत्तर मिला- अनुत्तर धर्मश्रद्धा प्राप्त होती है और अनुत्तर धर्मश्रद्धा से शीघ्र ही संवेग की प्राप्ति होती है। क्योंकि जैसे-जैसे धर्मश्रद्धा बढ़ेगी, व्यक्ति को संसार में आनंद आना कम होता जायेगा फिर एक समय ऐसा भी आयेगा जब वह संसार से उदासीन हो जाएगा। मेघकुमार ने भगवान् की वाणी सुनी और उनके मुंह से निकला-

आलित्तेणं भंते लोए, पलित्तेण भंते लोए...

भगवान् यह संसार जल रहा है। लोग कहेंगे पागल हो गया क्या? पागल कौन है? औरों को दिखने में वह पागल लगता है किन्तु उन्हें मालूम नहीं कि पागल तो हम स्वयं बने हुए हैं। वह तो संवेग को उपलब्ध हो गया है। हम समझ नहीं पाते हैं किन्तु अंदर की ग्रन्थि का जब भेदन होता है तब लगता है कि संसार में आग लग रही है। उस आग पर क्या कोई आनंद मना सकता है? किन्तु अभी हमें मालूम ही नहीं हो रहा है। जब हमको स्वयं को लगेगी तब अनुभव होगा। अभी तक तो हमें लगता है कि हम वातानुकूलित कक्ष में बैठे हैं, बड़ी ठंडक लग रही है। मेघकुमार भगवान् की वाणी सुनकर कहता है- आलित्तेण भंते लोए...।

उसे लगने लगा- आग जल रही है, नीचे चड़का लग रहा है, मैं बैठ नहीं सकता। मेघ के माता-पिता ने उसे बहुत समझाया होगा, पर क्या समझा वह? वह क्या समझता! उसकी तो एक ही रट लग गई थी-

लेऊं लेऊं संयम भार माता मोरी ए
आज्ञा तो देओनी म्हाने मोद सूं...

कितने माता-पिता होंगे जो कहेंगे कि जाओ, मैं आज्ञा देता हूं। चाहे पहले घर में रहते हुए उसे कष्ट भी दिया होगा पर दीक्षा की बात आएगी तो उनके मुंह से निकलगा- ले ली दीक्षा। और घर में व्यवहार कुछ ठीक नहीं रहा हो तो कहेंगे- वहां क्या पातरे फोड़ने हैं? मेघ की माता कहती है- अभी तू ने जाना क्या है? यह बात अलग है कि उसे पता ही न था कि उसने क्या जान लिया था? बाल चाहे काले के सफेद हो गए हों और वे भले न समझ पाये हों, पर दुध-मुंहा बालक बात समझ सकता है। वह ऐसा समझा कि माता-पिता ने कितना भी समझाया, पर उनकी बात नहीं समझा, क्योंकि वह गणित अलग है, यह गणित अलग है। एक ही नाप से प्रत्येक को नापने का प्रयत्न करे तो वह लागू कैसे होगा? अनाज का तराजू है, कोई सोचे सोना इसी से तोल लूं, है तो तराजू ही। लेकिन अनाज के लिये अनाज का तराजू चाहिये और स्वर्ण तोलने के लिए स्वर्ण तोलने का कांटा चाहिए। जैसे लोहा तोलने के लिए लोहे का कांटा होता है वैसे ही सोना तोलने के लिए सोने का कांटा होता है। सोने का व्यापारी यह नहीं सोच सकता कि लोहे के तराजू या कांटे से ही सोना तोल लूं, न ही वह उस तोल से व्यापार करना चाहेगा, क्योंकि सोने की तोल में तो एक-एक रत्ती का हिसाव होता है किन्तु लोहे की तोल में यह बात नहीं होती। यदि कोई सोचे कि क्या फर्क पड़ता है, हैं तो दोनों धातु ही। धातु होते हुए भी कांटा एक नहीं होता। वैसे ही मनुष्य-रूप में एक होते हुए भी यदि एक के भीतर आवेग है और दूसरे के भीतर संवेग है, तो दोनों का तोल एक कैसे होगा? संसार में रहने वालों के पास लोहे का कांटा है, तो वे उसी पर तोलना चाहते हैं किन्तु उस पर तोल हो नहीं सकता। यह तो जिसके भीतर संवेग जगा है, वही जान सकता है कि उसके भीतर की क्या स्थिति है। उसे आग की तपन महसूस होती है, उस विषय-कषाय की आग की जो आत्मा को संतप्त करती है। जव वह अनंतानुवंधी क्रोध, मान, माया, लोभ का क्षय करता है तव राग-द्वेष की जो ग्रंथि है, उसका भी छेदन हो जाता है। ग्रंथि-छेदन आदि प्रक्रियाएं कर्म-ग्रन्थ पढ़ने वाले जानते हैं। यह सारा अध्यवसायों का खेल है। जैसे विद्यार्थी प्रयोगशाला में प्रेक्टिकल करते हैं, वैसे ही हमारे भीतर की प्रयोगशाला में अध्यवसायों का खेल

होता है। फिर वहां स्थितिघात, रसघात, गुण-श्रेणी, गुण-संक्रमण आदि की स्थितियां बनने लगती हैं। वे सारी स्थितियां अध्यवसायों के आधार पर चलती हैं। यथाप्रवृत्तिकरण होता है और जोश आ जाता है। एक धक्का और लगा और अपूर्वकरण की स्थिति बन जाती है। अपूर्वकरण अर्थात् जैसा पहले नहीं हुआ, वैसे अध्यवसायों की स्थिति बनती है; अनिवृत्तिकरण में प्रवेश करने पर फिर निश्चय बन जाता है कि अब तो वह आत्मा आत्म-साक्षात्कार, आत्मा का अनुभव या संवेदन किये बिना लौटने का नाम नहीं ले सकती। मदभेद भी बहुत-सारे होते हैं और अलग-अलग आचार्यों की अलग-अलग चर्चाएं भी होती हैं, परन्तु तत्त्व की बात एक ही है।

आचार्य उमास्वाति ने तत्त्वार्थ सूत्र के स्वोपज्ञ भाष्य में स्पष्ट किया है कि अनादिकाल का मिथ्यादृष्टि अपूर्वकरण से क्षयोपशम सम्यक्त्व प्राप्त कर लेता है, किन्तु कर्म-ग्रन्थिकों की मान्यता भिन्न है। उनका मत है कि अनादि मिथ्यादृष्टि अपूर्वकरण में स्थितिघात करता है और अनिवृत्तिकरण में पहुंच कर उसके अन्तर्गत अन्तरकरण करता है और उसके पश्चात् उसे उपशान्त अद्धा की प्राप्ति होती है। उपशान्त अद्धा का तात्पर्य है कि जिस समय मिथ्यात्व एवं अनन्तानुबन्धी कषाय के दलिये उदय में नहीं हों, इसलिये आत्मा के लिये वह समय शान्त-प्रशान्त आत्मानुभव का होता है। इससे उस काल को उपशान्त अद्धा कहा गया है। उस समय अनादि मिथ्यादृष्टि उपशम सम्यक्त्व प्राप्त करता है। उपशान्त अद्धा पूर्ण होनेपर पुनः मिथ्यात्व में भी जा सकता है। मिश्र अवस्था में भी उसका प्रवेश हो सकता है अथवा क्षयोपक्षमिक सम्यक्त्वी बन जाता है। यदि संपूर्ण मिथ्यात्व के दलिकों का क्षय करता है और उसी के साथ अनन्तानुबंधी चतुष्क का क्षय करता है तब क्षायिक सम्यक्त्वी बन जाता है। अंनतानुबंधी चतुष्क का स्वरूप कितना जटिल है, इसे भी समझें।

जैसे एक बहिन के दो भाई हैं। रक्षाबंधन का प्रसंग आया। बहिन ने अच्छी राखियां मंगाई। सोचा, छोटा भाई नजदीक रहता है, इसलिए पहले उसे वांध दी जाय, फिर वड़े भाई के वांध दूंगी। उसने छोटे भाई को बुलाया। वह आ गया। उसे राखी वांध दी। फिर वह वड़े भाई के घर के लिये चली। वड़े भाई को यह सूचना मिल गई कि वह छोटे भाई को राखी वांध कर आ रही है। वस, वह चिढ़ गया। वोला- जा, जा, रहने दे। नहीं वंधानी मुझे। तुम्हारे विना

राखी बंधेगी नहीं क्या? और न जाने क्या-क्या कहता चला गया। यह हकीकत है, कपोल-कल्पित बात नहीं। वर्षों बीत गये और एक राखी का निमित्त वर्षों तक वैर-वैमनस्य के रूप में चलता रहा- पहले छोटे के क्यों बांधी? बड़ा मैं हूं। विचार कीजिये कि यही बड़प्पन है क्या? वर्षों बीत गये पर वह निमित्त समाप्त नहीं हुआ। अभी भी दुःखदायी बना हुआ है- "मैं बड़ा हूं, पहले मेरी पूछ होनी चाहिये।" ऐसे प्रसंग संसार में रहते हए क़ई बार बनते हैं। ऐसी बातें देखने में सामान्य लगती हैं, पर इन्हें अपने साथ जोड़ लिया तो ये ही गहरी हो जाती हैं और दुर्भेध बन जाती हैं। जब तक ये टूट न जायें तब तक जीवन में आनंद नहीं आ सकता। तब तक जीवन में रूखापन लगता रहेगा। संबंधों में स्निग्धता भी नहीं आएगी। ऐसी स्थिति में सुख नहीं आयेगा और जीवन बोझिल बना रहेगा।

है तो उसकी तुलना उदार हृदय से कैसे हो पायेगी और तोलें तो वह बात सही है भी नहीं। जिसके हृदय में संवेग भाव जगा है, उसे तो दुनिया निस्सार लगेगी। वह ऊपरी तौर से संसार में रहता है, पर उसके भोगों को भोगता नहीं है।

आप लोग कैसे कर रहे हैं, इसे भी समझें। पोते की शादी हुई और पड़पोते का जन्म हो गया तो मन में क्या उमंग आएगी? सोने की निसरणी चढ़ जाऊं सोचिये भावों से चढ़ते हैं या ऊपरी मन से? मन से चढ़ते हैं तो फिर समझो कि हमने अभी संसार को असार माना नहीं है। किन्तु वस्तुतः भीतर में वैसी गुदगुदी नहीं है- पोता हो गया, पड़पोता हो गया तो भी निर्वेग का भाव नहीं आया। हम अपना कर्तव्य-कर्म कर रहे हैं तो वहां संसार के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदला हुआ है। जब तक ऐसा भाव नहीं बनाते तब तक संवेग भी प्रगाढ़ नहीं बनता।

मेघकुमार की दृष्टि बदली, चाहे राजसुख में रह रहे थे, पर उस सुख में भी कांटे चुभने लगे। आपको बंगलों के सुख में भी कांटे नहीं चुभते। पहले तो मखमली गद्दे होते थे पर आज डनलप के होते हैं। पहले कहा जाता था, मखमली गद्दे-तकिये और हिंगलू के ढोलिये, किन्तु अब तो वे नहीं रहे, अब तो पलंग पर सोते हैं। उस पर सोकर भी क्या कभी लगता है कि कांटे चुभते हैं? एक हालत होती है सम्राटों की जिनके लिये चाहे ५-५ या ७-७ गादी-तकिये लगा दिये जायं किन्तु यदि उस आसन में भी कहीं सल रहे तो उन्हें लगेगा कि सेज ठीक से नहीं बिछाई गई है और उन्हें नींद नहीं आएगी।

एक दासी ने सम्राट् के लिए फूलों की सेज बिछाई। मन में विचार आया, जरा सोकर तो देखूं, कैसी नींद आती है! बेचारी थकी हुई थी, लेट गई, नींद आ गई। इतने में सम्राट् आ गये, देखा। अरे! गजब हो गया। हमारी शय्या पर यह सो रही है, इसकी इतनी हिम्मत! अनुचरों को आदेश दिया, लगाओ इसको कोड़े। कोड़े पडने लगे। वह सोचने लगी- बात क्या है? फिर ध्यान आया कि ओहो! मैं पलंग पर सो गई थी! फिर संवेग जाग्रत् हो गया । वह हंसने लगी, रोई नहीं, प्रार्थना नहीं की कि मुझे मत मारो। वह हंसती रही । लोग सोचने लगे- यह कैसा पागलपन है। सम्राट् ने पूछा- क्यों हंस रही है? उसने कहा- यह मत पूछिये। सम्राट् ने कहा- नहीं-नहीं, पूछना तो पड़ेगा, हंस क्यों रही है? उसने फिर कहा- राजन् मत पूछिये। पर राजहठ भी क्या कम होता है! सम्राट्

ने कहा- नहीं, वताना पड़ेगा। जो भी हो निःसंकोच भाव से कहो। तव उसने कहा- राजन्! मुझे विचार आ गया कि मैं फूलों की सेज पर एक ही घंटे सोई तव इतने कोड़े लगे। हालांकि मुझे वेदना हो रही है, पर मेरा ज्ञान कह रहा है- तू क्या वेदना का अनुभव कर रही है? जो सम्राट् रात-रात-भर सोता है, उसे कितने कोड़े सहने पड़ेंगे, यह सोच। ज्योंही मेरे मन में यह चिन्तन जगा, त्यों ही मेरे मन ने कहा- तू क्यों दुःखी होती है, राजा का स्थिति का विचार कर। उसे कितनी वेदना सहन करनी पड़ेगी? राजन्! मेरी तो इस चिन्तन से आंख खुल गई है।

दासी की तो आंख खुल गई पर हमारी तो पता नहीं कब आंख खुलेगी? कभी खुल भी जाय तो लगता है, अभी तो दिन नहीं निकला, थोड़ी देर और सो जाऊं। और फिर कितने घंटे सोये रह जाते हैं? जागने को तैयार ही नहीं होते। थोड़ा-वहुत जागरण होता भी है किन्तु फिर हवा का झोंका ऐसा लगता है कि सारा वैराग्य उड़ जाता है। जैसे कपूर की टिकिया उड़ जाती है वैसे ही हमारा संवेग भी उड़ जाता है। जैसे इत्र की शीशी खोल कर रखें तो खुशवू उड़ जाती है वैसे ही हमारे भीतर की संवेग की खुशबू भी उड़ जाती है। किन्तु घासलेट इतनी जल्दी नहीं उड़ता और उड़ भी गया तो उसकी गंध बची रहती है इसीलिए आत्मगुण प्रकट नहीं होते। इसीलिए कहा जाता है- संवेग प्राप्त करो। संवेग प्राप्त हो गया तो फिर उसके लिए वताया गया है कि वह - "णवं कम्मं न बंधई" अर्थात् नये कर्म का बन्धन नहीं करता।

वात आगे से आगे वढ़ती जा रही है और बात में वात आ जाती है। आचारांग सूत्र में कहा गया है- "सम्मतदंसी ण करेइ पावं"। सम्यक्दृष्टि पाप नहीं करता है। फिर क्या करता है? क्या उसके कर्म का वन्ध होता ही नहीं? साधु के कर्म-वंध होता है क्या? वात वहुत महत्त्वपूर्ण है। सम्यक्दृष्टि पापकर्म का वंधन नहीं करता, यह नहीं कहा, किन्तु वह पाप नहीं करता। आप पापकर्म करते तो नहीं हो? सम्यक्दृष्टि के साथ संवंध जोड़ा है और यह भी वताया है, श्रावक के लिए कि-

''धम्मट्ठिया धम्मेणचेव वित्तिकप्पमाणा विहरंति''

जो धर्म से वृत्ति करने वाला होता है उसका लक्ष्य पाप का नहीं होता है। जो पाप हो रहा है वह आरंभजा क्रिया है। उससे कर्म भले वंध जाय, पर

करने का लक्ष्य नहीं है। उसने उस दुर्भेद्य ग्रंथि को तोड़ दिया है, वह बंध कितना करता है? अन्तः कोड़ाकोड़ी सागर से ज्यादा दीर्घस्थिति का बंध नहीं करता है। इस अपेक्षा से कह सकते हैं कि वह पापबंध नहीं करता। दूसरे शब्दों में कहें कि- हालांकि वह ज्ञानावरणीय, दर्शनावरणीय, अंतराय व मोहनीय कर्म का भी बन्धन करता है, पर बंध करता हुआ भी मूल हेतु उन कर्मों के बंध का नहीं होता। पर यह न मान लें कि वह पापकर्म का बंध करता ही नहीं। होना और करना, दोनों अलग-अलग बातें हैं। संसार में जी रहा है, पर निर्लेप भाव से।

भरत छः खण्ड के बीच में रह रहे हैं पर दृष्टि केन्द्र पर गड़ी है। ऐसी गड़ी रहे तो वह अनन्तानुबंधी चौकड़ी को समाप्त कर देती है। मैं पहले कह गया हूं कि उस बड़े भाई ने यह विचार कर कि पहले मेरे क्यों नहीं बांधी, वैर का अनुबंध कर लिया। यदि इस प्रकार का विचार नहीं है तो अनन्तानुबंधी चतुष्क का क्षय हो गया। ऐसी ग्रंथि खुल गई तो फिर जो बट हैं वे थोड़े-से प्रयत्न से निकल जाएंगे। यदि हम शांत जीवन जीना चाहते हैं, तीर्थंकर देवों की वाणी सुनते हैं तो अपने जीवन-व्यवहार में ऐसी कोई गांठ बांधने का प्रयत्न न करें। उसमें निमित्त डालने का प्रयत्न न करें। यदि गांठ पड़ गई तो भले ही वर्तमान में बोध हो-न-हो, पर आने वाले समय में वह भारी दुःख देगी। विचार कीजिये कि जो गांठें पीछे की हैं वे तो खोल नहीं पा रहे हैं और नई-नई बांधते चले जायेंगे तो कब खोल पायेंगे?

भगवान् महावीर की आत्मा ने गांठ-भेदन का प्रयत्न किया, उस नयसार के भव में। सारे व्यक्ति कह रहे हैं- आइये, भोजन कर लीजिये पर वे कहते हैं- पहले किसी अतिथि को, संत को भोजन करवा दूं। और आपसे कह दें कि आज भोजन से पूर्व एक मिनट भावना भानी है तो कितनी बार नजर घड़ी पर चली जाएगी और सोचेंगे- एक मिनट कब पूरा होगा? वह प्रतिज्ञा कर रहा है कि पहले अतिथि को खिला दूं, फिर भोजन करूं। इतने में उसने मुनि को देखा। बहुत ही भक्ति-भाव से उसका हृदयकमल प्रफुल्लित हो गया। उसने उन्हें श्रद्धापूर्वक आमंत्रित किया और प्रतिलाभित किया।

कई बार गांवों में जाते हैं तो बहिनों का भाव बढ़ने लगता है और उनके मुंह से स्वर निकलते हैं-

म्हारी पुण्यवानी लगा थोड़ो जोर, संतां ने लाईजे पावणा...।

संत भी अतिथि के रूप में हैं। पावणे की तो फिर भी पहले से सूचना हो सकती है, पर संत गोचरी हेतु कब आएंगे, पता नहीं होता। तिथि बंधी होती है क्या? भगवान् ने कहा है- तिथि बांध कर गोचरी नहीं जाना, और कोई जाता है तो वह वस्तुतः संयम जीवन से उतर रहा होता है। संतों का योग विना पुण्य के नहीं मिलता। जब पुण्यवानी जोर खाती है तो संतों के दर्शन मिलते हैं। कहा है- साधुनां दर्शनं पुण्य, तीर्थभूताहि साधवः। संत अपने-आप में तीर्थभूत हैं, सन्तदर्शन पुण्य उपार्जन कराने वाले हैं। पुण्य के संयोग से ही होता है संत-दर्शन। आप सुवाहुकुमार का वर्णन सुन रहे हैं। सुपात्रदान देने में, दान की ही बात नहीं, उससे भी महत्वपूर्ण है कि किस मुनि से आर्यवचन सुना। एक वचन भी यदि हृदय में उतार लिया तो वह जिन्दगी बदलने वाला बन जाता है। रोहिणेय चोर के पिता ने कहा था- बेटे! और जो करना है वह करना, किन्तु भगवान् महावीर की वाणी मत सुनना। उसके पिता को डर था कि यदि सुन लेगा तो मेरा धन्धा चौपट हो जायेगा। भृगु पुरोहित ने क्या किया था? जब मालूम पड़ गया कि जवानी में आते ही उसके पुत्र साधु बन जाएंगे तो उन्हें ले कर जंगल में चला गया ताकि उन्हें योग मिले ही नहीं। किन्तु उनका पुण्य वहां भी खिल गया। जिसका पुण्य होता है वह खिलता ही है, वह कहीं भी क्यों न चला जाये। भृगु उन्हें जंगल में ले गया, किन्तु संत वहां भी आगये। माता-पिता ने अपने बच्चों को कितनी-कितनी बातें बताई थी किन्तु संत-दर्शन से उनके द्वारा बताई गई सारी बातों का प्रभाव समाप्त हो गया। आपके घर में कोई दीक्षा लेने को तैयार हो जाये तो कहेंगे, नहीं जाना है महाराज के। क्या पड़ा है महाराज में? और ऐसा भी कह देंगे कि एक चांटा जड़ दूंगा तो याद आ जायेगा महाराज बनना! पर जिनमें वैराग्य जग चुका हो, उनका ये थप्पड़ें क्या करेंगी? ये जितनी लगेंगी उसकी भावना और पक्की होगी। प्रतिकूल परीषह जितनी मजबूती लाता है उतना अनुकूल परीषह नहीं। प्रतिकूल परीषह से इतनी मजबूती आ सकती है कि फिर उस पर प्रभाव नहीं पड़े। भावना बनने के बाद मुझे असम ले गये। कुछ दिनों बाद मैंने कहा- मुझे संतों के पास जाना है, तो कहने लगे- कोई रोकेगा नहीं, ४-५ दिन बाद चले जाना। और ये होता तो फिर लगता कि कोई

बात नहीं, रोक तो नहीं रहे हैं। और जैसे ही दो दिन बीते कि फिर कहता कि मुझे जाना है तो कहते हैं- अभी नहीं। हम नहीं चाहते कि तुम संसार में रहो, पर इतनी जल्दी क्या है? हम आश्रम बनवा देते हैं, वहां रहना। हजारों लोग आएंगे। इस प्रकार अनुकूल बातों से परीषह देने वाले व्यक्ति बहुत कम होते हैं। अधिकांशतः प्रतिकूल उपसर्ग दिये जाते हैं। बहुत-सा दूसरा साहित्य दिया गया कि इन्हें पढ़ो। पढ़ा भी सही, पर विचार लौट-लौट कर वहीं आ टिकते। रात्रि १२ बजे तक नींद नहीं आती, पर घूम-फिर कर न जाने क्या बनता? पारा वहीं आता। भगवान् महावीर का दर्शन ही सही है। मठ, आश्रम से साधु का क्या वास्ता जब घर छोड़ दिया तो नये आश्रम क्यों बनाना! कहने का मतलब यह कि अनुकूल परीषह देने वाले कम मिलते हैं।

मैं बता रहा था कि उस समय नयसार ने भक्तिभाव से आहार बहराया, फिर उन्हें मार्ग बताया और संतों से कहा- मेरे आत्मकल्याण के लिये उपदेश दें। संतों ने कहा- संसार में विषय-कषाय बहुत हैं, किन्तु जो जितना निर्लिप्त रहता है वह जीवन को उतना ही पवित्र बनाता है। मन छाने कोई बात नहीं करना चाहिये। उसकी भक्ति, धर्म के प्रति निरन्तर बढ़ती गई। सुपात्र-दान देकर जीवन को धन्य बनाया।

हम भगवान् महावीर के जीवन को ध्यान से सुनें और उनकी आत्मा के साथ अपनी आत्मा को तोलने का प्रयत्न करें। हमारे जीवन में कैसी-कैसी घटनाएं घटती हैं और हम कैसी- कैसी गांठ बांध लेते हैं, इस पर भी विचार करें। ये गांठें कई बार विवेकहीनता का परिणाम होती हैं और कई बार अज्ञान अथवा नासमझी के कारण बंध जाती हैं परन्तु हमेशा राग-द्वेष इनसे जुड़े होते हैं और गांठों को खींच-खींच कर मजबूत करते रहने का कार्य करते हैं। होना तो यह चाहिये कि पहले तो गांठें लगने ही न दें, यदि असावधानीवश लग भी जायें तो उन्हें जल्दी से जल्दी ढीला करने का प्रयास करें। कई बार इस प्रयास मात्र में विवेक का सहारा लग जाता है और गांठ स्वतः ही ढीली होकर खुल जाती है, यदि ऐसा नहीं होता तो भी वह ढीली पड़ी रहती है और अनुकूल अवसर आते ही सरक जाती है। जीवन-प्रवाह में भाग्य के तत्त्व को किसी-न-किसी रूप में स्वीकार करने की स्थितियां बनती ही हैं। हम उसे संयोग भी कह सकते हैं। जब संयोग या भाग्य का विवेक के साथ तालमेल बैठ जाता है तब चमत्कारिक

स्थितियों की रचना हो जाती है। हमारी दृष्टि तो यही होनी चाहिये कि हम जाग्रत् रहें, अपनी वृत्तियों पर नियंत्रण रखें, अध्यवसायों के प्रति ईमानदार रहें, सत्कर्म में आस्था रखें तथा विवेक की लगाम ढीली न छोड़ें। यदि इतना ही हम कर सकें तो कोई कारण नहीं कि अनुकूल समय न आये, संयोग न बने और इष्ट की प्राप्ति का अवसर न मिले। तीर्थंकर देवों के चरित के श्रवण, धर्मग्रन्थों के पारायण और साधु-संतों के मार्गदर्शन की मनोवल को दृढ़ बनाये रखने में महती भूमिका होती है। अतः इनका सहारा न छोड़ें और आश्वस्त रहें कि सव-कुछ शुभ होगा। निश्चिन्त रहिए, तब सब शुभ ही होगा।

❑❑

निर्वेद की महिमा

संभव देव ते धुर सेवो सवे रे........।

विषय और कषाय, ये दो शत्रु आत्मा के साथ जुड़े हुए हैं। विषय क्या हैं और कषाय क्या है, इन्हें भी समझें। विषय हमें विभ्रम में डालते हैं और कषाय हमें बांधने का काम करते हैं। विषय हमें बहकाते हैं, और जैसे ही हमारा बहकना होता है, कषाय झट बांधने के लिए तैयार हो जाते हैं। इन्हीं विषयों-कषायों में आत्मा के निमग्न होने के कारण उसके भ्रमण की स्थितियां बनती हैं। इस भ्रमण की अवस्था को काटना-छोड़ना है और विश्राम में पहुँचना है तो निर्वेद की अवस्था प्राप्त करना अत्यंत आवश्यक है। निर्वेद का स्वरूप स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि वह देव-मनुष्य-तिर्यंच सम्बन्धी काम-भोगों के प्रति उदासीन होता है। निर्वेद में उन विषयों में विरक्ति होती है।

विषय के दो भेद कर सकते हैं- प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष वह, जिसका आत्मा से संबंध हो, किन्तु यहां उसे प्रत्यक्ष कहा गया है- जिसे आंखों से देख सकते हैं। इसके विपरीत आंखों एवं अन्य इन्द्रियों से जो न जाना जाय वह परोक्ष। वहुत-सा विषय है जिसे हम देख रहे हैं वह प्रत्यक्ष है, पर जिसे देख नहीं रहे हैं, पर कानों से सुनते हैं अथवा जिसके बारे में पढ़ते हैं, वह परोक्ष है, जैसे- देवलोक का सुख। यह ठीक है कि देवलोक का सुख अभी देख नहीं रहे हैं, पर सुना है कि वहां ऐसी विपुल सुख-साधन-सामग्री उपलव्ध होती है, जिसमें देव आकंठ डूबे रहते हैं। हम मन में चिंतन करके ही जान पाते हैं कि कैसे-कैसे भोग देवलोक में उपलव्ध होते हैं। आराम इतना कि कोई काम नहीं करना पड़ता। न दुकान, न माल वेचना, न कृषि, न ही और कोई काम। केवल आनन्द का और सुख का उपभोग। ऐसी वातें हम कानों से सुनते हैं, उन पर विचार करते हैं कि अभी आंखों से नहीं देख रहे हैं, इसलिए ये सभी अभी हमारे

लिए परोक्ष हैं, किन्तु उनके प्रति भी लालसा जग सकती है। सकती ही नहीं, जग जाती है। अभवी जीव भी साधु वनता है। साधना की कठोरता को स्वीकार करता है और अपनाता है, किन्तु उसकी साधना के पीछे लालसा यही होती है कि जितना-जितना आगे के देवलोक में जाऊंगा, उतना-उतना अधिक सुख पाऊंगा। इसी भाव से वह कठोर साधना करता है। यदि यही भाव हमारे भीतर या श्रावक जीवन की आराधना करते वन जाय कि यहां साधु-जीवन में थोड़ी कठिनाई सह लूं तो कोई बात नहीं, परन्तु वहां पहुँचकर तो खूब सुख भोगूंगा, आनन्द प्राप्त करूंगा और मौज-मस्ती करूंगा, तो समझलो साधना बेमानी है। ऐसे भावों के साथ यदि साधु-पोशाक धारण करें या श्रावक-व्रत अंगीकार करें तो समझें कि ये निर्वेद के भाव नहीं हैं, अपितु विषय की कामना के अंग हैं। अभवी आत्मा ऐसे ही भोगों की कामना लिए हुए ऊपर से पोशाक पहनती है, पर असलियत में वहां निर्वेद नहीं होता। थोड़ा दुःख भी वह इसलिए सहता है कि वाद में देवों का सुख विशेष रूप से मिल जाएगा। उसका चिन्तन होता है कि यहां के भोग तो क्षणिक हैं, यहां शरीर बूढ़ा हो जावेगा फिर वह रौनक नहीं रह पाएगी, झुर्रियां पड़ जायेंगी और यहां का सब-कुछ विनाशशील है, इसलिए यहां थोड़ी साधना और कर लूं, देवलोक में चला जाऊं, वहां वुढ़ापा नहीं आयेगा और हर समय जवानी रहेगी तब आंकठ भोग भोगूंगा। यह पूरी तरह से चालाकीभरा भौतिकवादी चिन्तन होता है। इस प्रकार के भावों से साधु या श्रावक वनें तो वे निर्वेद के भाव नहीं हैं। इस संदर्भ में बुद्धदास का प्रसंग आंख खोलने वाला बन सकता है।

बुद्धदास ने सुभद्रा को देख लिया था। पूछा था- यह कौन है? ज्ञात हुआ कि यह यहां के श्रेष्ठी जिनदास की पुत्री है। पूछा- क्या इसकी शादी हो गई है? उत्तर मिला- नहीं। इनके पिता चाहते हैं कि जिनेश्वर देव के उपासक, योग्य वर के साथ इसका संवंध करूं। बस, बुद्धदास की वासना के पंख लग गये। उसने छ्ल का आश्रय लिया। उसी दिन से उसका धर्मस्थान में पहुँचना प्रारंभ हो गया। उसने सामायिक प्रतिक्रमण शुरू कर दिये। अभी आता कुछ नहीं था, पर थोड़ी-वहुत जानकारी लोगों से प्राप्त कर ली। गुरु चरणों में पहुँचा, वंदन करके निवेदन किया- गुरुदेव! मैं कुछ सीखना चाहता हूँ। संत के पास

सामायिक, प्रतिक्रमण, थोकड़े सीखे। पाखण्ड का पूरा बाना पहन लिया। अब वह संसार से उदासीनता की बातें करता, तत्त्वज्ञान की बातें करता। देखने वाले कहते- ओहो! छोटी उम्र से ही कितना तत्त्वज्ञान है! किन्तु वह सब किसलिए था, आप जानते हैं। उसकी उदासीनता में निर्वेद का भाव कहां था, वह तो आकांक्षा की पूर्ति के लिए थी। अभिलाषा की पूर्ति के लिए कितना भी तप-त्याग क्यों न किया जाय, वह निर्वेद की कोटि में नहीं आता। वैसी ही स्थिति उसकी थी। सुभद्रा के पिता उसे घर लेकर आये, वे उसके पाखण्ड से प्रभावित थे। दुनिया की यही रीति है यथार्थ क्या है, कौन जानता है? हमारे अन्दर की अवस्था हम स्वयं ही जान सकते हैं।

बुद्धदास को वे भोजन के लिए लेकर गये। वह कहने लगा- मेरे तो द्रव्य की मर्यादा है। श्रेष्ठी देखते रह गये। अहो! इतनी छोटी उमग्र में इतना त्याग-वैराग्य! वे आग्रह करने लगे- मेरी भावना है अतः मेरा आतिथ्य तो स्वीकार करना होगा। बात-चीत के दौरान उन्होंने अपनी आंतरिक इच्छा जाहिर कर दी कि मैं अपनी पुत्री का संबंध जोड़ना चाहता हूँ। बुद्धदास ने देखा कि उसकी योजना सफल हो रही थी। बोला- मैं अपरिचित हूँ, आप मुझे जानते तक नहीं। क्या अपरिचित से संबंध करेंगे? श्रेष्ठी और प्रभावित हो गये। कहने लगे- पूत के लक्षण पालने में ही नजर आ जाते हैं। आपसे बढ़कर मुझे और कौन मिलेगा? शादी हो गई। सुभद्रा ससुराल पहुँची और दूसरे दिन ही उसे कहा गया- ये मुँहपत्ती हटाओ, यहां ये नहीं चलेगा। सुभद्रा एक क्षण के लिए हक्की-बक्की रह गई। सासू कहने लगी- ये तुम्हारे ढकोसले यहां नहीं चलने वाले हैं। सुभद्रा सन्न रह गई, किन्तु उसके जीवन में सच्चा त्याग-वैराग्य था। यदि त्याग के साथ वैराग्य नहीं हो तो क्या कल्याण हो सकता है? निर्वेद के साथ संसार के प्रति जो उदासीनता का भाव जुड़ा हुआ होता है वह आत्मा का कल्याण करने वाला होता है। उस पर बहुत दबाव डाला गया, किन्तु उसका निर्वेदभाव नहीं जा सका। जहां निर्वेद नहीं हो वहां त्याग भी सही रूप में फल देने वाला नहीं बनता। उसकी यदि भोगेच्छा होती तो वह धर्म को एक किनारे रखकर ससुराल के रंग में ही रंग जाती, पर उसने वैसा नहीं किया। संसार-सुख उसे प्रलोभित नहीं कर सके। उसको त्याग के साथ निर्वेद का भाव था, वैराग्य था। त्याग के साथ

उत्कृष्ट वैराग्य भाव नहीं हो तो वह जीवन की खेती को तहस-नहस कर डालता है। खेती में वीज तो डाल दिये जायं पर उन्हें यदि पानी नहीं मिले तो वह खेती पनप नहीं सकती। पानी के साथ समय-समय अच्छी खाद भी मिले तो फसल भरपूर होती है।

पूज्य गुरुदेव जव दिल्ली में विराज रहे थे तव जंगल के लिए यमुना-पार जाना पड़ता था। जव चातुर्मास के दिन आ गये तव उन्होंने देखा कि यमुना के किनारे, जहां गटर के पानी के साथ मल-मूत्र की खाद पहुंच गई थी और जहां मक्की वोई गई थी, थोड़े ही दिन में वहां मक्के के वड़े-वड़े भुट्टे लग गये। मल-मूत्र एवं गटर का पानी वैसे तो उच्छिष्ट पदार्थ हैं, किन्तु वे अच्छी खाद भी है इसलिए बीज वड़े-वड़े मक्के के दानों में परिणत हो गये थे। वैसे हम यदि मल-मूत्र का गटर देख लें तो सहसा हाथ नाक पर चला जाता है, किन्तु वही जव खाद के रूप में परिणत हो गया तो उसने मक्का के पौधों को पुष्ट कर फसल को सरसब्ज कर दिया। वैसे ही 'त्याग' वीज है, 'वैराग्य' खाद है। 'वीतराग वाणी' रूपी पानी जव उसे सिंचन देता है तव वह वीज पनपता है और अंकुर फूट पड़ते हैं किन्तु यदि सिंचन व खाद न मिले तो फूट हुआ वीज भी समाप्त हो जाता है।

हम विचार करें कि क्या कारण है कि हम आज त्याग-प्रत्याख्यान तो करते हैं, किन्तु उससे अपनी आत्मा को तृप्त नहीं कर पाते हैं। ऐसा क्यों होता है कि तपस्या में भी रात में स्वप्न आ जाते हैं? ऐसी घटनाएं भी सुनी जाती हैं कि रात में देखा- उकाली वन गई है, मेरे लिए हलवा वनाया जा रहा है। ऐसे स्वप्न क्यों आते हैं? कारण ढूंढ़ने के लिए दूर जाने की जरूरत नहीं है। कारण है कि उपवास तो करते हैं, पर जो निर्वेद का भाव वनना चाहिये वह पूरा वन नहीं पाता है और किसी-न-किसी रूप में वैसे भाव जागते रहते हैं। दिन के वे भाव ही रात में स्वप्न में रील की तरह सामने आते रहते हैं। यदि निर्वेद को सही रूप में स्वीकार कर लिया जाय तो फिर सारे विषयों से विरक्ति की अवस्था वन जानी चाहिये। कहीं भी लगाव नहीं रहना चाहिये। परन्तु यथार्थ में ऐसा हो नहीं पाता है। हम त्याग तो करते हैं किन्तु लगाव वना रहता है। तभी वैसी स्थिति वनती है। गाय वंधी हुई है, इसलिए मजबूर जरूर है, पर जैसे ही खूंटे

से छूटी कि तुरंत हरी घास पर टूट पड़ती है। उधर ही भागने की कोशिश करती है। यदि मजबूरी में हम बंधे हुए हैं, किन्तु मन विषयों की ओर दौड़ रहा है अथवा उधर भाग रहा है तो भगवान ने स्पष्ट बताया कि यह अकाम निर्जरा का रूप है। उससे पुण्य संचय जरूर हो जायेगा, पर सोचना यह भी है कि क्या इतना ही अपेक्षित है?

एक कुलवधू है जो बाल-विधवा हो जाती है। विधवा होने के बाद कुल की मर्यादा है कि दूसरे पुरुष के साथ संबंध नहीं कर सकती। कुल मर्यादा के कारण वह घर में रह तो रही है पर मन में विषयों के भाव भरे हुए हैं। मन नहीं करता पर अकाम भाव से ब्रह्मचर्य का पालन करती है। हो सकता है कि उससे वह ६४००० वर्षों की देवगति का आयुष्यबंध कर ले क्योंकि उस पुण्य से देवलोक के भोग मिल जायेंगे। एक दूसरी बाला है, जिसने छोटी उम्र में ही जीवनपर्यन्त के लिए ब्रह्मचर्य व्रत स्वीकार कर लिया है और निर्वेद भाव से बिना किसी प्रकार के ऊहापोह के उस व्रत का पालन कर रही है, तो वह देवगति का दीर्घ आयुष्यबंध कर लेगी। यही बात शील व्रत के संबंध में भी है। यदि कोई इस प्रकार का व्रत ग्रहण कर फिर त्याग-वैराग्य भाव से, निर्वेद भाव से, उसका पालन किया जाता है तो ऐसा व्रत उसे देवगति की लंबी आयुष्य का और ज्यादा सुख-सुविधा की प्राप्ति कराने वाला होता है। जो अपनी मर्जी से प्राप्त काम-भोगों को पीठ दे देते हैं, "जेय कंते पिए भोए, लद्धे वि पिटिठ कुव्वई" के भाव से उन्हें पीठ दे देते हैं कि मुझे इनका सेवन नहीं करना है और त्याग-वैराग्य के साथ चलते हैं, वे अनुत्तर अवस्था को प्राप्त करते हैं और देवलोक से जब चलते हैं तो यहां भी उत्तम कुल आदि को प्राप्त करते हैं।

उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन में इस स्थिति विवेचना की गई है। हम सोचते हैं, यह पुण्यवानी थोड़े ही है, पर यह सम्पत्ति पुण्य का प्रतिफल है या नहीं? उत्तराध्ययन सूत्र के तीसरे अध्ययन की समीक्षा की जाय तो वहां बताया गया है कि उसने व्रतादि का किन भावों से पालन किया है। यदि शुभ भावों से पालन किया है तो उन शुभ भावों से पुण्य संचय कर देवलोक में जाता है और वहां से निकलता है तो उसे चार काम स्कंध मिलते हैं- अच्छे मित्र, माता-पिता, सम्पत्ति व भोग के साधन। ये पुण्य से प्राप्त होते हैं। उसने देवभव

से पूर्वजीवन में त्याग-नियम का शुभ भाव से पालन किया है। वह जो संवर की अवस्था वनी थी, वह तो आश्रव को रोकने वाली थी किन्तु वहां जो शुभ योग, शुभ भाव थे वे उसके पुण्यार्जन का कारण वने। उनके आधार पर उसे वह अवस्य प्राप्त होती है। इसलिए एकान्त रूप में ऐसा नहीं कह सकते कि सम्पत्ति पुण्य से नहीं, वल्कि पुरुषार्थ से मिलती है। यदि सिर्फ पुरुषार्थ से मिलती होती तो ऐसा क्यों होता कि एक व्यक्ति सुवह से शाम तक एड़ी से चोटी तक पसीना वहाये और एक टाइम के भोजन का भी जुगाड़ नहीं कर पाये जवकि दूसरी तरफ केवल दो घंटे पेढ़ी पर जाकर वैठने वाला लाखों का व्यापार कर ले और उसे कोई विशेष पुरुषार्थ नहीं करना पड़े। यह भी पूछा जा सकता है कि पुण्य से संपत्ति मिलती है और संपत्ति तो परिग्रह है, और परिग्रह तो पाप है, तो क्या पुण्य का फल पाप के रूप में मिलता है? उत्तर और समाधान इस प्रश्न और उसके उत्तर में निहित है। साधु को दान देने से क्या होता है? सुपात्र-दान का फल क्या है? सुख-विपाक सूत्र साक्षी है, वहां स्पष्ट रूप से वताया गया है-

'गिहंसी य से इमाइं पंच दिव्वाइं पाउब्भूवाइं'

५ दिव्य प्रकट होते हैं। वहां सोने की वृष्टि हुई या नहीं? सुमुख गाथापति ने उत्कृष्ट भाव से दान दिया। उसके फलस्वरूप यह प्राप्त हुआ। वह यदि परिग्रह है तो परिग्रह तो पाप होता है। लेकिन ध्यान रखिये, सोना पाप नहीं है, चादी, हीरे, माणक, मोती पाप नहीं हैं। यदि पाप कहें तो सुपात्र-दान का फल क्या पाप-रूप में आया? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। जो प्राप्त हुआ, वह पुण्य के प्रभाव से प्राप्त हुआ, किन्तु यदि उस पर आसक्ति वन जाय तो वह पाप होगा। पाप क्या है? सम्पत्ति को पकड़ कर रखने की भावना वने तो वह पाप है। मम्मण सेठ के यहां वहुत सम्पत्ति थी किन्तु उसने-

कृपण धन खर्चे नहीं, जीवत जस नहिं लेत।
जैसे अड़वो खेत को, खावे न खावा देत॥

जैसा व्यवहार किया। कितना धन था! किन्तु लोभ और चाह की कोई सीमा नहीं होती। सुना होगा कि रत्नजड़ित एक वैल तो मिल गया तो भी चैन नहीं। चाह हुई कि दूसरा वैल भी होना चाहिये। यदि दो वन गये होते तो लगता कि वैल सूने अच्छे नहीं लगते, एक गाड़ी भी होनी चाहिये। गाड़ी भी वन जाती

तब भी क्या तृप्ति हो जाती? तब सोचता गाड़ी बिना गाड़ीवान के अच्छी नहीं लगेगी और गाड़ीवान भी बन जाता तो फिर चाह जगेगी कि खाली गाड़ी क्या शोभती है? इस प्रकार चाह आगे से आगे बढ़ती जाती। जहां निर्वेद के भाव नहीं हैं, वहां परिग्रह की अभिलाषा बढ़ती जाती है। ऐसा परिग्रह पाप का कारण बन सकता है। पदार्थ-मात्र पाप नहीं है, उसके प्रति जो लगाव का भाव रहता है, वह पाप का कारण है। परिग्रह है, पर यदि निर्वेद भाव मौजूद है तो वह पाप का कारण नहीं बनेगा। भले ही कितना ही इकट्ठा हो जाये, पर यदि लगाव नहीं है और वह उसका उपभोग करता रहे तो वहां पाप का कारणं नहीं बनेगा। एक होता है पापानुबंधी पुण्य, और एक होता है पुण्यानुबंधी पुण्य। इसे समझें।

एक व्यक्ति शक्कर, की गाड़ी भरकर लाता है और बेचकर वापिस अपनी ट्रक भरकर ले जाता है। शक्कर बेच कर वापिस शक्कर भर लेता है यह है तो पुण्यानुबंधी पुण्य का खेल। पापानुबंधी पुण्य है जैसे शक्कर भर कर लाता है किन्तु या तो कोयला भर लेता है या लकड़ियां भर लेता है, किन्तु शक्कर भर कर नहीं ले जाता। वर्तमान में पुण्य लाया पर उसका उपयोग गलत कर लिया। नन्दन मणियार ने तेले की तपस्या में विचार कर लिया- यह कैसी तपस्या? इसके बजाय तो मैं बावड़ी बनवाऊं, ऐसा करूं, वैसा करूं, और न जाने कितनी-सारी कल्पनाएं कर ली। इतने-सारे विचार आये पर अपेक्षित फल मिला क्या? नहीं। क्यों? खाद-पानी नहीं मिला। बीज तो था, पर बीज को सिंचन नहीं मिल पाया। बीज था व्रतों का, पर उसे लगा इसमें क्या पड़ा है? बीजों को क्रिया का, भावना का खाद-पानी नहीं मिला। परिणामस्वरूप दोनों में रस नहीं आ पाया। फसल हो भी जाये, पर वैराग्य की खाद के बिना रस नहीं आयेगा। नन्दन मणियार को लग रहा है कि अब इसमें रस नहीं है। दूसरे दिन उसने काम शुरू करवा दिया। बावड़ी, बगीचे, धर्मशालाएं बनवाईं। अब तो जिधर देखो उधर प्रशंसा और यश- अहो! देखो, कितना परोपकारी है! बावड़ी बनवा दी, कितने लोग अपनी प्यास शांत करेंगे! कितने लोग वृक्षों की विश्रांति प्राप्त करेंगे! नन्दन मणियार कीर्ति के इस मीठे जहर को पी रहा था। इस संसार की यही स्थिति है कि व्यक्ति मीठे जहर को आसानी से उतार लेता है। कड़वा जहर भले व्यक्ति सहन नहीं कर पाता हो, पर मीठा जहर तो वह गटागट नीचे उतार लेता है।

आप दान देते हैं, किन्तु उसके पीछे भाव होता है- मेरा नाम होना चाहिये और जव चारों ओर प्रशंसा होने लगती है- सेठजी का तो क्या कहना! यह प्रशंसा ही मीठे जहर का काम करती है। आप शास्त्र उठाकर देखिये, आपको विवरण मिल जायेंगे। इन मीठी-मीठी वातों को सुनकर नन्दन मणियार गर्व-गौरव के भाव से फूल जाता है। ओहो! मैंने कैसे काम किये हैं!! और वह तिर्यंच आयु का वंध कर लेता है। क्या १२ व्रत उसे मेढ़क के भव में ले गये? नहीं। कारण १२ व्रत नहीं हैं। कारण है- मीठे-मीठे जहर का पान। वह पान करने से ही वह मनुष्य- तन हार कर तिर्यंच में चला गया। इन दृष्टांतों को सुन कर हम हृदय के पट खोलें। हम चिंतन करें कि निर्वेद में जी रहे हैं या पापानुवंधी पुण्य वांध रहे हैं? लोग कहें- सेठजी तो वहुत दानवीर हैं, ये तो गरीवों के मसीहा हैं! प्रशंसा का यह मीठा-मीठा जहर पीते रहे तो क्या स्थिति वनेगी, यह सोचें। यदि हकीकत में वैसे गुण हैं और प्रशंसा की जाती है तो सोचें कि मेरे भीतर अनेक गुणों की कमी है, जिसे मुझे दूर करना है किन्तु मीठा जहर भीतर नहीं उतारें। जैसे पानी छान कर पीते हैं, वैसे ही वाणी को भी छानकर पीयें। जो-कुछ भी आये उस सभी को भीतर नहीं उतारें, तो जीवन नष्ट नहीं होगा।

बंधुओं, यदि हम इस मानव-भव को सार्थक करना चाहते हैं तो हमें यतनापूर्वक चलना होगा। हमें चिन्तन, आचरण और परिणाम के वीच तालमेल बैठाना होगा। हम वीतराग वाणी सुनते जरूर हैं, पर निर्वेद के भाव भीतर जगते हैं या नहीं, इसका भी हमें ध्यान रखना होगा। हम कहीं विपयों की तरफ वैसे ही तो नहीं दौड़ रहे हैं जैसे गाय चारे-वांटे की तरफ दौड़ती है? इसका निर्णय हमें और आपको स्वयं करना है। आप सामायिक करते हैं, पौपध करते हैं, उनसे अंतर में तृप्ति और वृत्ति में संतोप आना चाहिये क्योंकि ये व्रत-नियम आत्म-शांति देने वाले हैं। अगर आपको लगे कि मैं वहुत करता हूं पर संतोप प्राप्त नहीं होता, तो आपको खोज करनी चाहिये कि मैं लम्वे समय से त्याग-प्रत्याख्यान कर रहा हूं फिर भी मेरी आत्मा में शांति-संतोप-निर्वेद क्यों नहीं आ रहा है? खोज करेंगे तो कारण पता चलेगा।

जिन खोजा ति पाइयां, गहरे पानी पैठ।

यह वात गहरे उतरने की है, जितना गहरा कोई उतरेगा, उतना उसे

मिलेगा। नहीं मिले, ऐसा हो नहीं सकता। इस पूरी प्रक्रिया को समझें। हो सकता है कि समुद्र में कोई एक बार डुबकी लगाये तो कुछ न मिले। दूसरी बार, तीसरी बार और सौ बार डुबकी लगा ले, किन्तु यदि एक बार भी एक रत्न मिल गया तो सारी मेहनत सफल हो जाती है। कौन-सा क्षण सफलता देने वाला बन जायेगा, यह बता पाना कठिन है। परन्तु खोज नहीं करें और सोचलें कि मन ही नहीं लगता, तो बात नहीं बनेगी। मन को लगाना पड़ता है। सुनते-सुनते ही बात समझ में आती है। दूध को स्थिर करने के लिए उसे रड़ाना पड़ता है। आंच लगती है तब मावा बनता है। वैसे ही निरन्तर सुनते रहें, तो सुनते-सुनते संस्कार जगेंगे, तो हमारे भीतर भी दूध का मावा बनेगा।

त्याग से निर्वेद के भावों की उत्पति हो सकती है; पर इसके लिए आवश्यक है कि इन भावों को प्राप्त करने का लक्ष्य बनाया जावे। संवेग की चर्चा कितनी ही करते जायें, उससे लाभ नहीं। उसे आचरण में उतारें। उसके माध्यम से निर्वेद प्राप्त करने का लक्ष्य बनायें, तब बात बन सकती है। यह निर्वेद ही उदासीनता के उस भाव को विकसित करेगा और प्राप्ति को भी अपरिग्रह में बदल देगा। इस प्रकार जब इच्छाओं का, अपेक्षाओं का और कामनाओं का अंत हो जायेगा तब विषयों के विभ्रम और कषायों के बंधन से मुक्ति की स्थिति बनेगी। यह स्थिति ही साधना की सफलता की स्थिति होगी जिसमें शुभ भावों से पुण्य का संचय सुनिश्चित होगा और परमसिद्धि का मार्ग प्रशस्त होगा। अतः निर्वेद की प्राप्ति का हम लक्ष्य बनायें और अपना कल्याण करें। निर्वेद का भाव जगेगा तो देव, मनुष्य और तिर्यंच संबंधी विषयों से भी विरक्ति होगी। इस संबंध में यह भी समझ लें कि मनुष्य संबंधी विषयों में अहं का प्रमुख स्थान है। व्यक्ति स्वयं के प्रति बहुत लगाव रखता है और यही लगाव जब शरीर के प्रति हो जाता है तब व्यक्ति तप-मार्ग पर नहीं चल पाता। यह लगाव जब भावनाओं और कामनाओं के प्रति होता है तब व्यक्ति भोगों के प्रति उन्मुख हो जाता है और स्वयं की तुष्टि के सभी उपाय करता है। परन्तु जब संवेग जाग्रत हो जाता है तब उसमें अनुत्तर धर्मश्रृद्धा उत्पन्न हो जाती है। तब मनुष्य उस स्थिति में भी पहुँच जाता है जिसमें वह अनंतानुबंधी क्रोध, मान, माया, लोभ आदि का क्षय कर पाता है। परिणामस्वरूप नये कर्मों का बंध करने से वह बच जाता है। वह

मोक्ष-सुख का अभिलाषी बन जाता है तथा धर्म के प्रति, धार्मिक पुरुषों के प्रति और पंचपरमेष्ठि के प्रति उसमें प्रीति उत्पन्न हो जाती है। यह उत्कृष्ट धर्म की स्थिति होती है जो निर्वेद की अवस्था तक पहुंचा देती है। इस प्रकार संसार मार्ग का विच्छेद तो प्रारंभ हो ही जाता है, सिद्ध मार्ग की ओर गति भी प्रारंभ हो जाती है। और साधक यदि अध्यवसाय में लगा रहे तो सिद्धि-मार्ग प्राप्त कर लेता है। इस मार्ग पर चलने के लिए भौतिक सम्पन्नता की आवश्यकता नहीं होती। भौतिकवादी मानसिकता से तो इसका वैर ही होता है। इसके लिए तो भौतिकता से विरति की मानसिकता अपेक्षित होती है।

भावनाओं की पवित्रता और आत्मबल की सम्पत्ति हर-किसी को यों ही उपलब्ध नहीं होती। हो सकता है कि अत्यंत हीन, दीन, दुर्बल मनुष्य को यह सहज ही उपलब्ध हो और धन, वैभव, बल, शक्ति आदि से सम्पन्न व्यक्ति प्रयास करने के बाद भी इसे उपलब्ध न कर सके। यह आन्तरिक क्षयोपशम का परिणाम है। और ऐसा परिणाम किसी में भी, कहीं भी और कभी भी हो सकता है। उस पर कुल या स्तर का कोई बंधन नहीं होता। इसलिए यदि हमें दिखाई दे कि किसी में ऐसा परिणाम है, उसमें निर्वेद का भाव अंतर तक भरा हुआ है, तो उसके मार्ग में बाधक नहीं बनना चाहिये, क्योंकि वैराग्य के मार्ग पर चलता हुआ वह स्वयं का तो उद्धार करता ही है, अपने से संबद्ध लोगों के भी कल्याण का साधक बनता है। उचित तो यह है कि ऐसे व्यक्ति के साथ सहयोग कर उसे उसके लक्ष्य की ओर बढ़ने में सहायक बना जाय। इसमें उसका हित तो होता है, सहायक बनने वालों को भी पुण्य-लाभ होता है।

□ □

कल्याण का मार्ग

सूयगडांग सूत्र में कर्मबंध का हेतु आरंभ को माना गया है। आरंभ और परिग्रह- ये दोनों कर्मबंध के प्रमुख हेतु कहे गये हैं। वैसे मिथ्यात्व, अविरति, कषाय और योग- इन्हें भी कर्मबंध का हेतु माना गया है, किन्तु आरंभ और परिग्रह में सभी सम्मिलित हैं। लगभग सभी संसारी प्राणी आरंभ-परिग्रह में निमज्जित मिलते हैं। संसार में रहते हुए आरंभ से निवृत्त हो पाना, अथवा स्वयं को परिग्रह से मुक्त कर पाना बहुत कठिन है। तब देखना यह है कि आरंभ-परिग्रह का कारण क्या है। जब हम जानते हैं कि आरंभ-परिग्रह बंध का हेतु होता है तब फिर क्यों हम उसमें उलझते चले जाते हैं? हमारा मन क्यों उनके प्रति आकर्षित हो जाता है?

प्रभु महावीर ने इसकी स्पष्ट विवेचना की है। उन्होंने कहा है कि जैसे-जैसे हम विषयों में आसक्त होते जाते हैं अथवा विषयों में जैसे-जैसे हमारा रुझान बनता जाता है, वैसे-वैसे आरंभ-परिग्रह से हम अपना जीवन जोड़ते चले जाते हैं। इस प्रकार विषयों में आसक्ति ही आरंभ परिग्रह का कारण है। हमें स्वादिष्ट भोजन चाहिये, तो उसके लिए हम अनेक प्रकार के साधनों का उपयोग करते हैं और परिग्रह जुटाते हैं। परिग्रह के साथ आरंभ की स्थिति जुड़ी हुई होती है। यदि पास में कुछ हो ही नहीं तो आरंभ कैसे होगा? परिग्रह के भी दो रूप हैं- द्रव्य परिग्रह और भाव परिग्रह। धन-संपत्ति, मकान आदि को द्रव्य परिग्रह माना जाता है जवकि आसिक्ति युक्त अध्यवसाय और विचार भाव परिग्रह हैं। निर्वेद की परिभाषा करते हुए, उसकी जड़ को टटोलते हुए आरंभ-परिग्रह से ऊपर उठने के लिए कहा गया है। वहां निर्वेद का फल वताते हुए यह भी कहा गया है कि पहले देव-मनुष्य- तिर्यंच संवंधी भोगों से उपरत हों, उनसे अपने-आप को अलग करने का प्रयत्न करें। जव इनसे वैराग्य आता है तव

इन्द्रिय संबंधी विषयों से व्यक्ति विरक्त हो जाता है। विषय को ग्रहण नहीं करता-यह बात नहीं है। विषय को ग्रहण तो करता है, पर विषयों के प्रति शुभाशुभ के जो भाव बनते थे, उन पर अंकुश लगा लेता है, रोक लगा लेता है। उसे लगता है कि विषयों में जो स्वाद हैं वही मेरी विमति के, दुर्गति के कारण हैं। ऐसा सोचकर वह उनसे निवृत्त होता है। शास्त्रों में हम पढ़ते हैं कि आनंद भगवान् महावीर की सेवा में उपस्थित हुआ और उनका उपदेश सुना। उसे लगा कि यह वाणी वस्तुतः जीवन को मांजने वाली है और उसमें परिवर्तन करने वाली है। फिर उसने अपनी क्षमताओं का अनुमान कर निवेदन किया- "भगवन्! मुझमें इतना सामर्थ्य नहीं है कि आगार धर्म को छोड़कर मैं अणगार बन जाऊं। यद्यपि आपकी वाणी सुन कर मैं इस निर्णय पर पहुँचा हूं कि वस्तुतः अणगार जीवन ही सुखकर है, वही आनंद देने वाला है तथा कषाय-संतप्त आत्मा को सुख-समाधि देने वाला है, तथापि मैं अपने भीतर इतना शौर्य नहीं जगा पाता हूँ कि आगार धर्म को छोड़कर अणगार जीवन स्वीकार कर लूं। यद्यपि मैं अणगार जीवन स्वीकार नहीं कर सकता, तथापि मैं आपके मुखारविंद से ५ अणुव्रत, ७ शिक्षाव्रत, इस प्रकार १२ प्रकार के व्रत स्वीकार करना चाहता हूँ।" हम भी बारह व्रत कह देते हैं किन्तु 'वहां गिहिधम्मं' कहा गया है। गृहस्थ में रहते हुए पूर्ण निर्वेद नहीं तो आंशिक रूप से तो उसे स्वीकार किया ही जा सकता है। घर में रहते हुए भी बहुत-सी चीजें टाल सकते हैं, पर व्यक्ति लापरवाही के कारण टाल नहीं पाता है। पूरे विश्व का संबंध हमारी आत्मा के साथ जुड़ा हुआ है। एक बच्चा करोड़पति के घर जन्म लेता है तो वह भी उस करोड़पति फर्म का अधिकारी बन जाता है। उसका भी उससे संबंध जुड़ जाता है, हालांकि वह उसके संबंध में तब कुछ जानता नहीं है, फिर भी संबंध जुड़ जाता है। वैसे ही, जब हम विश्व में आंखें खोलते हैं तभी पूरे विश्व में जो आरंभ-परिग्रह का खेल हो रहा है, उससे हमारा संबंध जुड़ जाता है।

एक व्यक्ति कत्लखाने का त्याग नहीं करता है तो उसको तत्सम्बन्धी क्रिया भी लगती है। कितना फालतू का आरंभ है, पर उससे वह टल नहीं पायेगा। यह कितना बारीक विज्ञान है, जिसे हमारा शास्त्र बता रहा है। पूर्व में हमने जितने शरीर छोड़े हैं, उनके द्वारा जो आरंभ हुए हैं, उनका भी हमसे संबंध जुड़ता है। आत्मरक्षा के लिए एक व्यक्ति बंदूक खरीदता है, और उसका

लायसेन्स भी प्राप्त कर लेता है। वह बंदूक घर में पड़ी रहती है, वह उसका उपयोग नहीं करता परन्तु कोई अन्य व्यक्ति उसका उपयोग कर यदि हत्याएं कर डालता है तो प्रथम दृष्टि से अपराधी वही बनता है, जिसके नाम से लायसेन्स है। किसी ने नई मारुति कार खरीदी, लायसेन्स सेठ के नाम का है। ड्राइवर मारुति लेकर जा रहा है, अचानक कोई एक्सीडेन्ट हो जाता है तो कौन पकड़ा जायेगा? सेठ भले कहे कि मैंने तो चलाई नहीं थी किन्तु लाइसेन्स सेठ के नाम का है अतः आरोप तो उसी पर लगेगा।

इसी प्रकार हमने पिछले जन्मों में कई शरीर, कई मकान छोड़े पर लाइसेन्स अर्थात् ममत्वभाव अपने साथ रख लिया तो उनसे किये गये कर्मों का दायित्व हमारा ही रहा। यदि संथारा कर लें, तो सारे ममत्वभाव का त्याग हो जाता है। इस प्रकार जब शरीर के प्रति, परिवार के प्रति ममत्वभाव का त्याग हो जाता है तो फिर उनकी क्रिया भी आत्मा के साथ नहीं आती, परन्तु पिछले जन्मों में जिनका त्याग नहीं किया हो तो फिर चाहे वह शरीर हो, या मकान हो, उसका ममत्वरूपी लाइसेंस रख लिया हो तो क्रिया आएगी। बड़े-बड़े राजाओं ने किले बनाये, महल बनवाये, एक समय तक उनका रजवाड़ा चलता रहा, आज वे किले और महल बड़े-बड़े होटलों में परिवर्तित हो रहे हैं। वहां कितने पापकर्मों का प्रसंग जुड़ने की संभावना है? मुझे नहीं पता, पर सुनते जरूर हैं कि बड़े होटलों में अनाचार चलता है, वहां कॉल गर्ल्स आदि की व्यवस्थाएं होती हैं। कितना पापाचार पनप रहा है, कह नहीं सकते। वे किले बनाने वाले चले गये, पर उनकी मूर्च्छा नहीं हटी तो वहां जो पापाचार चल रहा है, उन सारी क्रियाओं का योग उनकी आत्माओं से जुड़ेगा। हमें ज्ञात नहीं है कि कितने जन्मों का पाप हम ढोये जा रहे हैं, किन्तु उसका त्याग किया जा सकता है। यदि हमारा वैराग्य जाग्रत् है तो ममत्वभाव के कारण जो क्रियाएं आ रही हैं उन्हें रोका जा सकता है। वर्तमान में बहुत-सारे कार्य ऐसे हैं जिनसे हमारा लेना-देना नहीं, हम उनके बारे में जानते भी नहीं, पर त्याग नहीं है तो उनकी भी क्रिया लगती रहती है।

इसलिए कहा जाता है कि जब आप सामायिक के प्रत्याख्यान कर लेते हैं, तो उतने समय के लिए आपकी आत्मा को अभय प्राप्त हो जाता है, करने कराने संबंधी सारा पाप टल जाता है, किन्तु हम इतना भी समझ नहीं पाते हैं। यदि इतना अवकाश नहीं है तो ज्ञानीजनों ने उसका भी स्वरूप प्रकट किया है

कि जितना अवकाश हो, उतने समय के लिए पांच आश्रवों का त्याग कर सकते है। उनमें खुले मुंह नहीं बोलना और आरंभ-परिग्रह का त्याग शामिल है। उतने समय तक के लिए आप निर्वेद भाव में आ जाएंगे। उतने समय तक आप संसार को भूल जायेंगे। कहते हैं कि जब आत्मा निर्वेद में उपस्थित होती है तब आप बहुत-सी क्रिया या पाप से अपने-आप बच सकते हैं। यदि मनुष्य-तन पाने के बाद भी त्याग नहीं किया, आरंभ-परिग्रह से जुड़े रहे, तो पाप का भारा बंधना ही है। निर्वेद में प्रवेश करना नहीं चाहते तो बात अलग है, नहीं तो यहां तक बताया गया है कि समुद्र जितना पाप लोटे में सिमट जाता है।

विचार कीजिये, कितना पाप टल जाता है! पर टालना ही नहीं चाहते तो कौन क्या कर सकता है? कितने ही भाइयों से पूछते हैं- सामायिक होती है? वे कहते हैं- हां, होती है। घर में कर ली, एक कर ली इसलिए व्याख्यान में करने की क्या जरूरत है? ज्यादा करने पर अजीर्ण हो तो बात अलग है। पर यदि आप व्यापार में कुशल हैं, व्यापार का सिद्धांत जानते हैं तो आप गलती नहीं कर सकते। आप जानते हैं कि महाजन किसे कहा जाता है और उसकी क्या नीति होती है। महाजन को तो जहां भी और जितना भी लाभ होता है, वह छोड़ता नहीं है। फिर धर्मस्थान में लाभ लेने के लिए स्वयं को तैयार क्यों नहीं कर पाते? दूसरी ओर निगाह डालिये, इस्लाम धर्म को मानने वालों को देखिये, वे स्टेशन पर भी कपड़ा बिछाकर नमाज पढ़ने के लिए बैठ जाते हैं। और आप हैं कि आपको मुंहपत्ती बांधने में शर्म आती है। कई बार समझाने का प्रसंग आता है तो भाई कह देते हैं- म.सा. मुंहपत्ती तो नहीं बांधूंगा। मैं पूछता हूं- क्या ऐतराज है? या तो आप समझा दें कि महाराज, यह एतराज है या बात मानो। हम बात पकड़ लेते हैं, समझते भी हैं। उनकी समझ में भी आती है, वे स्वीकार भी करते हैं। पर फिर वही ढाक के तीन पात। देखिये, इस एक के पीछे कितना लाभ है? कोई व्यक्ति आया, मुंहपत्ती बांधी, कपड़े बदल लिये। अभी पच्चक्खान नहीं किया, जावन नहीं डाला, कोई अर्जेंट काम आ जाए तो भी कोई आपको उठाने का प्रयत्न नहीं करेगा। हाथ पकड़कर नहीं ले जाएगा। यह पोशाक का महत्त्व है। पहले आपसे पूछ लेगा, कितनी बाकी है? आप कह दें- अभी पचखी नहीं है, तो बात अलग है, नहीं तो जबरदस्ती नहीं की जाती है। पोशाक पहन कर साधना में बैठते हैं तो उसका मन पर भी बहुत बड़ा प्रभाव पड़ता है। पुलिस

की वर्दी में कोई व्यक्ति है तो उसे देख कर ही मन में विचार बनेगा कि यह पुलिस है। ऐसे ही वकील की पोशाक देख कर जान लेंगे कि यह वकील है। स्कूल की पोशाक से बता सकते हैं ये कौन-सी स्कूल के विद्यार्थी हैं और पीछे दरी पर बैठने वालों को जान लेंगे कि ये जिनेश्वर के स्कूल के हैं या किसी अन्य स्कूल के हैं। प्रत्येक क्रिया का लक्ष्य होना चाहिये। जब हम बैठते ही हैं, समय लगेगा ही तो यह सुनिश्चित क्यों नहीं करते कि आत्मा उतने समय तक तो अभय को प्राप्त कर ले।

शास्त्रकारों ने कहा है- "दाणाण सेट्ठं अभयप्पयाणं" मैं पहले भी कह गया हूँ कि दुनिया की अन्य वस्तुओं को देखने के बजाय अपनी आत्मा को देखने का प्रयत्न करें। कितना बड़ा लाभ आप प्राप्त कर सकते हैं, बशर्ते पोशाक के साथ हमारी भावना जुड़ जाये। भावना जुड़ जाये तो फिर वह गुलाब के फूल की सुगंध होगी। वह पलाश या कागज का फूल नहीं, असली फूल हो जाएगा और जीवन में निश्चित रूप से सुगन्ध आएगी। जितने समय तक निर्वेद में रहेंगे, उतने समय तक आश्रव को टाल कर आप हल्के बने रहेंगे। कई भाई अंगूठी के प्रत्याख्यान करते हैं। कई व्यक्ति तर्क करते हैं कि अंगूठी परिग्रह है, त्याग के साथ उसे क्यों जोड़ा जाय? यदि कोई घर में कच्चा पानी पीने का त्याग करता है, बर्तन धोकर धोवन बनाता है, तो क्या वहां जीवों की हिंसा नहीं होती? यह किसने कहा कि नहीं होती, लेकिन जितना उसने त्याग किया है, उसका लाभ तो होगा ही। वह कच्चा पानी भी मुंह में नहीं डालेगा। यदि किसी को अंगूठी नहीं पहननी है तो कोई अनिवार्यता नहीं कि पहनी ही जाय। आप इतना भी कर सकते हैं कि निश्चय कर लें कि जब तक (नमो) "णमो अरिहंताणं" का उच्चारण नहीं करूंगा, तब तक मुंह में कुछ नहीं डालूंगा और जैसे ही खाने-पीने की क्रिया पूरी होगी कि "णमो सिद्धाणं" कह कर प्रत्याख्यान कर लूंगा। जितनी बार खाओगे-पीओगे उतनी बार "णमो अरिहंताणं" का उच्चारण होगा, खाना बन्द करोगे उतनी बार "णमो सिद्धाणं" का उच्चारण होगा। इस प्रकार दिन में कितनी बार इष्ट का स्मरण हो जावेगा। इस पर विचार कीजिये। बातें बहुत छोटी हैं, पर जब तक हमारे भीतर निर्वेद का भाव जगे नहीं, यह हो नहीं पाएगा और परिणाम होगा आत्मशक्ति का क्षय। हमारी गाड़ी चल रही है, टंकी खुली रह गई तो पेट्रोल ढुलता चला जायेगा। किन्तु यदि उसका ढक्कन बंद कर दिया

तो उस पेट्रोल से कितना लाभ उठा सकते हैं! आप भी ध्यान रखें कि सामर्थ्य और क्षमता का क्षय न होता रहे, साथ ही उनका सदुपयोग भी होता रहे।

पुराने समय में पुत्र-प्राप्ति, विवाह आदि प्रसंगों पर दान की परम्पराएं थीं। वे परम्पराएं सामाजिक समता का एक अंगरूप हुआ करती थीं। किसी बड़े घर में उत्तम प्रसंग उपस्थित होने पर गरीबों और असहायों को सहायता मिल जाती थी। ऐसा तब हो सकता है जब अपने धन-वैभव पर आसक्ति न हो, अपितु उस धन के प्रवाह को सामाजिक अवदान हेतु प्रवाहित करते रहने की मानसिकता हो। करुणा, सहानुभूति और मानवता जैसे गुणों की इस हेतु आवश्यकता तो होती है परन्तु सबसे बड़ी बात भावना की होती है। समाज के प्रति अपने दायित्वों की पालना की यह भी एक दिशा होती थी। इस तरह की भावना रखने से एक साथ कई लाभ प्राप्त हो जाते थे- अपने स्वयं की आत्मा को शांति मिलती थी, असहाय व्यक्तियों को सहारा मिलता था और जन्म लेने वाली आत्मा या शुभ प्रसंग से संबंधित व्यक्तियों को कृतज्ञ व्यक्तियों के ढेर-सारे आशीर्वाद प्राप्त हो जाते थे। विचार कीजिये कि इस प्रकार के शुभ प्रसंगों की समाज के लिए कितनी महिमा है। आशीर्वाद और शुभकामनाएं मंगलमय वातावरण का निर्माण करती हैं। यह मनोवैज्ञानिक सत्य ही नहीं, नैसर्गिक सत्य भी है। मनोविज्ञानवेत्ता इनके प्रति प्रकृति की निश्चित प्रतिक्रिया को स्वीकार करते हैं तथा उसके प्रमाण उपस्थित करते हैं। इसलिए यदि आप किसी को कुछ दे रहे हैं तो यह मत समझिये कि आप उपकार कर रहे हैं। उसके बदले में आपके प्रति जो आशीष वह प्रकट करता है उसकी कीमत आंकी नहीं जा सकती। कहा जाता है कि गरीब की हाय जड़ामूल से नष्ट करने की सामर्थ्य रखती है। जब एक हाय जीवन को बरबाद कर सकती है तो अनेकों आशीर्वाद जीवन को कितना आबाद और खुशहाल कर सकते हैं! कैसे शिखर पर ले जाने वाले बन सकते हैं यह मत पूछिये। भूकम्प आने के कई कारणों में एक कारण यह भी बताया जाता है कि कत्लखानों से निकलने वाली मूक पशुओं की आहें १०५८ मेगावाट की शक्ति से निकल कर घनीभूत अवस्था से जहां टकराती हैं, वहां भूकम्प आ जाता है। जब पशु की आह धरती को हिला सकती है तो मानव की हाय क्या नहीं कर सकती? पुराने राजाओं के राज्य क्यों चले गये? इसलिए कि वे गरीबों का शोषण करने वाले बने। उनकी बहन-बेटियों की इज्जत के साथ

उन्होंने खिलवाड़ किया। उस शोषण पीड़न से उठने वाली आहें राजाओं के राज्य को उखाड़ने वाली बनीं। बड़े-बड़े राजाओं के राज्य की क्या बात, रावण तक का राज्य नष्ट हो गया। पाप का घड़ा न भरे तब तक भले चलता रहे, किन्तु-

''पुण्यहीन जब होत है, उदय होत है पाप।
दाजे बन की लाकड़ी, प्रजले आपो-आप॥''

वहां अपने-आप आग सुलग जाती है। तुम घर बैठे गुलछर्रे उड़ा रहे हो, किन्तु जब पाप का उदय होगा तो आंसू बहाने पड़ेंगे। तब नहीं सोचोगे- अब क्यों रोऊं? अरे भला! जब तू खूब गुलछर्रे उड़ा रहा था, गरीब ताक रहा था तब तो तुझे करुणा, दया नहीं आई, मन में संवेदन पैदा नहीं हुआ, तब तुम्हारे भीतर निर्वेद नहीं जगा। तुमने सोचा भी नहीं कि पड़ौसी के घर में चूल्हा जला भी है या नहीं! अब तुझे पीड़ा हो रही है कि मुझे ये क्या दिन देखने पड़ रहे हैं! मत भूलो, कर्म किसी का सगा नहीं है। वह कभी आकाश में उछालता है तो कभी पाताल में भी ले जाकर पटकता है। इसलिए गुमान नहीं करना है कि मैं करोड़पति हूं, अरबपति हूं। हो भी तो कितने दिन के हो? पता नहीं, आने वाला अगला क्षण क्या सूचना दे दे? आये दिन घटनाएं सुनते हैं कि करोड़पति, रोड़पति हो गया। किन कर्मों का उदय कब हो जाय, पता नहीं, इसलिए उपलब्ध सुख-भोगों के बंधन में अपने-आप को न बांधें। सुख-भोगों का अनुभव कर्मों का बंधन करने के लिए विवश कर देता है और परिणाम में दुःखों का क्रम चल पड़ता है। समुद्रपाल की कथा स्पष्ट करती है कि कैसे भोगों के बीच भी उसे संवेग की प्राप्ति हुई। प्रासाद के झरोखे से वध्य के मण्डनों से शोभित वध्य को वधस्थल की ओर ले जाया जाता देखकर उसके मुंह से निकल पड़ा- ''अहोऽसुभाण कम्माणं निज्जाण पावगंइम'' (उत्तराध्ययन २१/६) -अहो, खेद है कि अशुभ कर्मों का यह पापरूप अशुभ परिणाम है।

कर्म करते समय उनकी प्रकृति पर नियंत्रण कर पाना कठिन होता है। यही बात ध्यान में रख कर समुद्रपाल ने शुभ और अशुभ, दोनों ही प्रकार के कर्मों का क्षय करने के लिए मुनि दीक्षा स्वीकार की। संवेग प्राप्ति का चमत्कारिक प्रभाव होता है, परन्तु सामान्यतः हम इस स्थिति से बेखबर रहते हैं। धर्म में श्रद्धा की बात इसीलिए कही जाती है, क्योंकि धर्म हमें लगातार सावधान करता रहता है, चेताता रहता है। कब सुखद संयोग बन जाय कि संवेग जाग्रत् हो जाय,

कहा नहीं जा सकता। व्यक्ति की प्रवृत्ति और प्रकृति पर यह निर्भर करता है। जागृति तुरंत भी हो सकती है और उसमें समय भी लग सकता है। इसलिए अध्यवसाय का त्याग नहीं करना चाहिये। सामायिक आदि साधनों से निर्वेग की स्थिति प्राप्त करने का प्रयास करें जिससे पाप-क्रिया से बचाव हो सके। छोटी-छोटी बातों से यह प्रयोग प्रारंभ किया जा सकता है जैसा मैंने पूर्व में कहा था। छोटी-छोटी बातों से बड़ी बातें बनती हैं, बूंद-बूंद मिल कर समुद्र बनता है। बस, आप सचेत रहें धर्म के प्रति निष्ठावान बने रहें और आरंभ-परिग्रह से मुक्त रहने का भाव बनावें, आपका कल्याण होगा।

❑❑

उत्सवों का सत्य

"उत्सव प्रिया हि मानवाः" मनुष्य उत्सवप्रिय है। उसे उत्सव चाहिये। एक वर्ष में ३५४, ३६० या ३६५ दिन होते होंगे, अलग-अलग संवत्सरों की अपनी गणना है। चन्द्र संवत्सर कहता है कि वर्ष ३५४ दिन व कुछ मुहूर्त का होता है। ऋतु संवत्सर ३६० दिन का होता है। आदित्य संवत्सर ३६५$\frac{१}{४}$ दिन में पूर्ण होने की स्थिति में आता है। यही कारण है कि चार वर्षों के वाद फरवरी माह में एक दिन बढ़ता है। वर्ष में कितने ही दिन हों, ३५४, ३६० या ३६५, किन्तु पूरे भारत में पर्व-त्यौहारों की गणना करें तो शायद उनकी संख्या ३६५ को भी लांघ जाएगी। कारण है, हम उत्सवप्रिय हैं। मैं भी कहता हूं पर्व जरूर मनाने चाहिये पर इस तरह मनाइये जिसमें आरंभ की स्थिति न बने। उस उत्सव में केवल शरीर की शोभा नहीं बढ़े, मन में ही प्रमोदभाव नहीं बने, किन्तु हमारी आत्मा भी उत्सव में मयूर की भांति नाच उठे। भले ऊपर में औदासीन्य भाव रहें, पर अन्तर प्रफुल्ल रहे। यह व्यवस्था आती है निर्वेद से। निर्वेद में हम ऊपर से शांत रहते हैं किन्तु अंदर उत्सव चलता रहता जो हमारी आत्मा को उन्नत करता है।

एक जगह की घटना है। एक युवा को सर्प ने डस लिया है, वह बेहोश पड़ा है। परिवार वाले हा-हाकार कर रहे हैं। ऐसी कथाएं आपने सुनी होंगी। एक देव चिकित्सक का रूप धर कर आता है और कहता है- मैं आपके परिवार के इस सदस्य को जीवित कर सकता हूं बशर्ते जो जहर मैं खींच कर बाहर निकालूं उसे कोई पी ले। पीने वाले की जीवन-लीला तो समाप्त हो जायेगी, पर वह जीवित हो उठेगा। बताइये, कितने तैयार होंगे जहर पीने के लिए? पिता कहेंगे- मुझे तो छोटी संतान की शादी करनी है; धर्मपत्नी कहेगी- मुझे छोटी संतान का पालन-पोषण करना है; कोई कुछ कहेगा और कोई कुछ कहेगा। तात्पर्य यह है कि परिवार के जितने भी सदस्य हैं, जो अपने-आप को स्नेहीजन

कहते हैं, जो उससे प्रेम करने का दम भरते हैं, उनमें से कितने उसके लिए जान देने तैयार होंगे? कितनों की ऐसी मोहब्बत होगी कि उसके लिए बलिदान दे दें? शायद एक भी नहीं।

कुछ समाजों में पति के निधन पर पत्नी की उसके शव के साथ सती हो जाने की परम्परा रही है। पर उसके पीछे भाव क्या रहते हैं? अंतर से सती होने वाली कितनी निकलेंगी? परम्परा से सती हो जायें, बात अलग है, पर अन्तर् में सती होने के लिए उनमें कितना उल्लास होता है? यथार्थ में उल्लास नहीं होता, क्योंकि सम्बन्ध मोह का होता है, आत्मा का संबंध नहीं। जहां मोह का संबंध होता है और उसमें बाधा पड़ती है तो वही उसे संतप्त करता है।

बंधुओ! मैं जिस युवक की बात कह रहा था, भले वह कथा का पात्र हो, पर उसके माध्यम से मैं एक सत्य की ओर संकेत करना चाहता हूं। अतः आगे सुनिये। उधर से एक फकीर निकला और उसने जहां सांप के दांत लगे थे, वहां मुंह लगाकर और पूरी शक्ति लगाकर पूरा जहर चूस लिया। जैसे-जैसे जहर उतरता गया, वह पुरुष हरकत में आने लगा। जिसने जहर चूसा था, उसने जहर मुंह से बाहर थूका और आगे बढ़ गया। वह युवक हाथ-पैर मरोड़ कर उठ बैठा; उसका जहर उतर गया था। परिवार वाले प्रसन्नता प्रकट करने लगे और उसी अलमस्तता में वे भूल गये कि वह फकीर चला भी गया। आखिर एक व्यक्ति को ध्यान आया, पर फकीर का कोई परिचय तो था नहीं। वह गया कहां, किसे पता? उसने बड़ा उपकार किया था, यह सोचकर लोग खोजने दौड़े। आखिर जब वह मिला तो कहने लगे कि आपने बड़ा उपकार किया है, हम भूल नहीं सकते। आपको जो मांगना है, मांग लीजिये। उस फकीर ने कहा- मांगना तो सौदा करना है। मैंने क्या उपकार किया? मैंने तो अपना कर्तव्य अदा किया है।

बंधुओ! बाहर से हम कभी भी, कुछ भी करें, किन्तु अंतर् में हम निर्लिप्त रहें। यही निर्वेद हमें समझाता है। निर्वेद हमें शिक्षा देता है कि बाहर से कभी कुटुम्ब-कबीले के बीच भी रहना पड़े तो भी अंतर् में उससे जुड़े नही, जैसे फकीर ने ऊपर से जहर पीया पर अन्दर में उसे नहीं जोड़ा। किन्तु आज हम इससे ठीक विपरीत दिशा में चलते हैं। हमने भले किसी का थोड़ा-सा उपकार ही किया हो, पर उसे इतना बड़ा बताना चाहते हैं जैसे गुब्बारे में हवा भरने के बाद वह फूल जाता है। बच्चे कब खुश होते हैं? जब गुब्बारा पूरा फूल

जाता है। हम भी तब खुश होते हैं जब थोड़ा भी किया हुआ फूल कर बड़ा रूप ले लेता है। किन्तु आप जानते हैं कि हवा उस गुब्बारे को कब तक, कितने समय तक फुलाये रखती है? लम्बे समय तक नहीं। भले ही उसका मुंह धागे से बांध दें। किन्तु दो दिन बाद उसमें वैसी रौनक नहीं रहती। उसमें सिलवटें दिखने लगती हैं और शिथिलता आ जाती है। धीरे-धीरे हवा कम पड़ती चली जाती है और जब पूरी निकल जाती है तब वह भद्दा और शिथिल दिखाई देने लगता है। भले ही आपने मुंह बन्द कर दिया हो, पर ऊपर की भरी हुई हवा उसे लम्बे समय तक फूला हुआ नहीं रख सकती। वैसे ही हमारी थोडी-सी परोपकार की वृत्ति हुई हो और हमारी भावना उसे गुब्बारे की तरह फुला कर रख ले कि हमें दुनिया देखें, हम दुनिया की नजर में आ जाएं, तो वह दिखावा भी ज्यादा समय तक टिकने वाला नहीं है। ज्यादा समय तक ख्याति रहने वाली नहीं है। कोई चाहे कि कागज के फूल से सुगंध प्राप्त कर लूं, या कागज की नाव से तिर जाऊं, तो यह संभव नहीं है। जैसे ही नाव समुद्र में डालेंगे, थोड़ी दूर तो वह तैरेगी किन्तु जल्दी ही उसमें पानी का प्रवेश हो जायेगा। वह गल जायेगी और उसका अस्तित्व ही समाप्त हो जायेगा। इसलिए हम ऐसा नहीं करें। यदि हमें उत्सव मनाना है तो निर्वेद भाव का मनाइये और उसके लिए बाहर कोई तैयारी नहीं करनी पड़ेगी। यदि हम संघ या समाज में रह रहे हैं तो वहां रहते हुए अपने दायित्वों का निर्वाह तो करते रहें, पर अपने-आप में निरपेक्ष रहें। यदि आपने निरपेक्ष रहना सीख लिया तो समझिये आपने जीवन जीना सीख लिया।

आप जानना चाहेंगे कि निरपेक्ष क्या होता है और सापेक्ष क्या होता है। तो समझिये कि सापेक्ष का तात्पर्य है कि यदि हम कुछ कर रहे हैं तो उसका हमें पुरस्कार या लाभ मिलना चाहिये। समाज में हमारी महिमा दर्ज होनी चाहिये। यदि ऐसी कोई भी अपेक्षा मौजूद है तो जीवन में आनंद तो आयेगा ही नहीं और जो अपेक्षा जुड़ी है, वह यदि पूरी न हो तो मन जल-भुन जायेगा। ऐसी अवस्था में क्या तुम समाज में काम कर पाओगे? तब सोचना होगा कि वस्तुतः तुम काम समाज के लिए क़र रहे हो या अपने लिए कर रहे हो, या समाज की निगाहों में स्वयं को दिखाना चाहते हो? यदि अपने लिए कर रहे हो तो आंखें देखती हैं क्योंकि खुली हैं और यदि समाज के लिए कर रहे हो तो आंखें बन्द होनी चाहिये। यह नहीं होना चाहिये कि समाज मुझे देखे, मेरे विषय में बोले। यदि वे बोल देंगे तो आत्मा का कल्याण तो नहीं हो जाएगा और यदि उन्होंने अनदेखा

कर दिया तो कार्य की महिमा समाप्त नहीं हो जावेगी। निष्कर्ष यह निकला कि यदि मैंने अपेक्षा जोड़ी है तो मैं जीवन को मलीन कर लूंगा और यदि अपने-आप को निरपेक्ष रखा है तो फिर समाज उपेक्षा भी करे तो उससे कोई फर्क नहीं पड़ेगा।

आनंदघनजी के पास एक राजा-रानी पहुँचे और उनसे अनुनय-विनय करने लगे- "महात्मन्! हमारे संतान हो जाय, इसके लिए हमें क्या करना चाहिये? आनंदघनजी को उस समय क्या कहना चाहिये, इस बारे में अलग-अलग मत हो सकते हैं। ये दुनिया है। आज की दुनिया से पूछे तो ऐसे परामर्श देने वाले भी मिल जायेंगे जो कहेंगे कि एक राजा-रानी यदि प्रभावित हो गये तो धर्म का बहुत प्रचार होगा, इसलिए ऐसे अवसर पर चूकना नहीं चाहिये। उन्हें कोई मंत्र बता देना चाहिये कि उनके संतान हो जाय। परन्तु यह अनुचित होगा। धर्म-प्रचार का यह मार्ग नहीं है। अतः आनंदघनजी ने ऐसा नहीं किया। आनंदघनजी ने उन्हें एक परची दी और कहा कि इस मंत्र को ताबीज के रूप में बांध लेना। उन्होंने बांध लिया। कहते हैं, कुछ समय के बाद उनके घर में संतान पैदा हो गई। अब वे पुनः आनन्दघनजी के पास पहुंचे और कहने लगे- आपकी बड़ी कृपा हो गई।

आनन्दघनजी ने आश्चर्य से पूछा- मेरी कृपा हो गई? राजा-रानी कहने लगे- "हाँ, आपकी कृपा से हम निहाल हो गये। आपने हमें मंत्र दिया था, उसकी बदौलत हमें संतान मिल गई। आनंदघनजी ने पूछा- मैंने कौनसा मंत्र दिया था, बताओ तो सही! उन्होंने झट ताबीज निकाल कर दिखा दिया। उसके अन्दर रखी गई परची को पढ़ा गया। उसमें लिखा था- 'राजा के बेटा हो तो आनन्दघन को क्या और राजा के बेटा न हो तो आनन्दघन को क्या। किन्तु उन्होंने उसे मंत्र समझ लिया कि महाराज की कृपा हो गई। दुनिया तो इस प्रकार की अपेक्षा से चलती है, पर आध्यात्मिक जीवन को जीना है तो सांसारिक कार्यों के साथ अपनी अपेक्षाओं को जोड़ें नहीं। निरपेक्ष भाव से जीयें। निरपेक्ष का भाव भी समझें। निरपेक्ष भाव से यह न समझ लें कि हमें किनारा करके चलना है, कुछ करना-धरना नहीं है। हम सक्रिय रूप से कार्य करें क्योंकि हम संसार में रह रहे हैं और संसार से सब का संबंध जुड़ा हुआ है। हमें दायित्व का निर्वाह करते हुए निरपेक्ष भाव रखना है ताकि उपेक्षा का शिकार न होना पड़े। गीता में कहा गया है-

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः॥

(श्रीमद्भगवद्गीता-३/१८)

इस संसार में पुरुष का किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है और न किये जाने से भी कोई प्रयोजन नहीं है, तो भी उसके द्वारा लोकहितार्थ कर्म किये जाते हैं।

गौतम मुनिजी कह रहे थे कि कई संत-सतियों की बोलने की इच्छा है, अपना-अपना आनंद और संतोष है। आज तपस्वीराज बलभद्र मुनिजी कहने लगे कि आज मुझे भी टाइम देना है। मैंने कहा- आपको टाइम देने वाला कौन है? सभा में सबका अधिकार है, इन्हें मना करने वाला कौन है? ये इनकी सहजता-सरलता है। जो बड़े होते हैं वे अपना बड़प्पन रखते हैं। इनका अपना आत्मबल है। कहने लगे- मुझे भी जयपुर चलना है। हालांकि बीच में परीषह भी आये। चिलचिलाती धूप और मारवाड़ की गर्मी, जिसमें ६ बजे भी चलना कष्टप्रद, वहां भी ये १० और ११ बजे तक पहुंचते और उसके बाद भी ३-३ घंटे व्यस्त रहते। नीचे सड़क तपे और ऊपर सूर्य, फिर भी घबराना नहीं। जहां जवान भी घबरा जाये वहां और इस वृद्ध अवस्था में भी कर्तव्यरत। मैंने एक दिन कहा- मेरी आत्मा तो नहीं मानती, आपकी कैसी हालत हो जाती है! किन्तु उनका जोश था कि ८-१० कि.मी. तक चल लेते थे। साथ में राजेश मुनिजी थे। आयम्बिल तपस्या विहार में ही शुरू कर दी थी। मैंने कहा कि विहार की स्थिति है तो ये कहने लगे- विहार में आहार की मुश्किल नहीं है, शहर में तपस्या की मुश्किल पड़ जाती है। मुझे तो करने दीजिये और ये दृढ़ रहे। आज उनके ४१ आयंबिल हो गये। बीच में ३६ दिन तक निरन्तर नीवी की, और भी कई प्रकार की तपस्या करते रहे तब भी इनका मन आनंदित है। यह है आत्मा का उत्सव। शरीर कितना सहयोगी होता है, यह बात अलग है, पर आत्मा में आनन्द रहता है। यह अन्तर से जुड़ने की स्थिति है। हम भी अंतर से जुड़ने का प्रयत्न करें। यदि कहीं आर्तभाव की स्थिति आती है तो वह नहीं बने, इसका ध्यान रखें। ज्ञान-दर्शन-चारित्र से आत्मा को अधिक से अधिक पवित्र करें, यह लक्ष्य होना चाहिये।

भगवान महावीर के चरित को सुनकर हम अपने भीतर भी उनके अनुसार उत्सव को मनाने की तैयारी करें, वह होगा निर्वेद भाव। उस उत्सव

से हृदय को सरोबर कर लिया तो हमारे भीतर आनंद की उर्मियां उठेंगी। आत्मानुभव की स्थिति बनेगी। फिर दुनिया से मतलब नहीं कि वह हमारा मूल्यांकन कर रही है या नहीं। मैं संतुष्ट हूं तो दुनिया रूठे या तूठे कोई मतलब नहीं। मेरी आत्मा संतुष्ट हो जाये यही मेरे लिए शुभ है। यही कल्याण है। यही मंगलमय अवस्था है। यही उत्सव की स्थिति है। इसमें रहते हुए हम निर्वेदभाव प्राप्त करें तो उत्सव भी सार्थक हो। वैसे भी उत्सवभावना मन से जुड़ी होती है। हमारा मन और आत्मा जिससे तृप्ति प्राप्त करें, आनंदित हों, वही उत्सव है। कहावत भी है- "मन चंगा तो कठौती में गंगा।" सांसारिकता से हम अपने-आप को जितना अधिक दूर करेंगे उतनी ही अधिक उत्सव की स्थितियां बनेंगी। यही निर्वेद में जाने की स्थिति होगी। यह स्थिति प्राप्त करना ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये।

❑❑

श्रम, परिश्रम और विश्राम

संभव देव ते धुर सेवो सेव रे.....

भक्तकवि आनंदघनजी परमात्मा के चरणों में स्वयं की भावना प्रस्तुत करते हुए कहते हैं- भगवन्! प्रवृत्ति करते-करते मैं व्यथित हो गया हूँ। बड़ा खेद होता है कि मैं इतनी प्रवृत्ति कर रहा हूँ फिर भी वांछित फल मुझे प्राप्त नहीं हो रहा है। एक व्यक्ति चोटी का पसीना एड़ी तक बहाता है किन्तु पेट भर नहीं पाता है। वैसे की कवि कह रहा है कि मैं इतनी प्रवृत्ति कर रहा हूँ, करते-करते मैं क्लांत हो जाता हूं, शरीर थक-थक कर चूर हो जाता है, फिर भी वांछित फल मैं प्राप्त नहीं कर पाता हूं। और ऐसे व्यक्ति भी मिलेंगे जो श्रम नहीं करते, जिन्हें श्रम के लिए हाथ-पैर हिलाने की आवश्यकता नहीं और वे आनन्द मना रहे हैं, मौज-मस्ती में जी रहे हैं। अब तो ऐसे-ऐसे यंत्र ईजाद हो गये हैं कि चलने के लिए पैर भी हिलाना न पड़े। साइकिल में तो फिर भी पैडल चलाने पड़ते हैं, पर विज्ञान ने ऐसे साधनों की खोज कर ली है कि अब स्कूटर पर बैठने की आवश्यकता भी नहीं। वे साधन पैर के नीचे लगे रहेंगें, आप स्विच दबाइये और अपने-आप चलने लग जाऐंगे। अब तक ये क्रियाएं हॉस्पीटल तक सीमित रही हैं, पर वे साधन लगा कर आपको पैर उठाने की आवश्यकता नहीं, कुछ करने की आवश्यकता नहीं। ऐसे-ऐसे यंत्र ईजाद कर व्यक्ति सोचता है कि हम बहुत विश्राम में आ गये हैं। पर भूलिये मत- एक व्यक्ति विश्राम कर रहा है पर उसका हर क्षण श्रम में बीत रहा है और एक व्यक्ति श्रम करते हुए भी विश्राम का आनंद ले रहा है। आप कहेंगे- यह कैसी बात? श्रम कर रहा है फिर भी विश्राम, और विश्राम में श्रम? पहले हम जान लें कि श्रम क्या है, परिश्रम क्या है और विश्राम क्या है?

आपके सामने ये तीन शब्द हैं- श्रम, परिश्रम और विश्राम। ये आपके बहुत उपयोग में आते हैं। ऐसी बात नहीं कि ये शब्द मुझ से ही सुन रहे हैं।

आप इन्हें सुनते हैं, काम में लेते हैं, पर इनका अर्थ क्या है, इस सम्बन्ध में दृष्टि स्पष्ट नहीं हैं। तो पहले इन्हें समझें।

श्रम- जो अपने-आप में क्रियाएं की जा रही हैं, जिनमें मन की, वचन की और योग की प्रवृत्ति हो रही है, काया की प्रवृत्ति रही है, उन्हें श्रम कहा गया है।

परिश्रम- 'परि' अर्थात् 'चारों तरफ से', श्रमशील बन जायें। श्रम में कभी मन की और कभी वचन की प्रवृत्ति होती है किन्तु जहां मन-वचन-काया, तीनों की प्रवृत्ति होने लगे, ऐसी स्थिति को परिश्रम की संज्ञा दी गई है।

विश्राम के दो अर्थ हैं। "विगतः श्रमः यस्मात्" अर्थात् जिसमें से श्रम चला गया। फिर क्या होगा? क्या निकम्मा हो जाय, वह विश्राम है? नहीं, तब दूसरा अर्थ समझें- "विशिष्टः श्रमः यस्मिन्" अर्थात् जिसमें विशेष श्रम होता है, वह विश्राम है। आप विचार करिये। एक परिश्रम कर रहा है, दूसरा विश्राम कर रहा है, इसमें अंतर क्या है? आप कहोगे- जो खाट पर थक कर सोया है वह विश्राम कर रहा है; जो पेड़ के नीचे बैठ कर सुस्ता रहा है, वह विश्राम कर रहा है। श्रम के बाद हम विश्रामशील होते हैं। क्या आपके उन विश्रामस्थलों में आपकी प्रवृत्ति रुक जाती है? प्रवृत्ति रुकी नहीं हैं किन्तु प्रवृत्ति संशोधित हो चुकी है, उसमें विशेषता आ जाती है। वह प्रक्रिया परिश्रम की नहीं, विश्राम की होती है। सामायिक करना, पौषध करना। ये क्या हैं? ये विश्राम हैं। श्रावक की बारह प्रतिमा स्वीकार करना क्या है? साधु बनने वाला कोई श्रम नहीं करता क्या? श्रमण की परिभाषा क्या है?

भगवान महावीर ने साधुओं को श्रमण कहा है और भगवान महावीर के लिए हम प्रयोग करते हैं- 'श्रमण'। क्या दीक्षा लेने के बाद उनकी हाथ पर हाथ धर कर बैठने की स्थिति रह गई थी? क्या वे प्रवृत्ति नहीं करते थे? बल्कि वे दिन-रात श्रम में जुटे रहे। रात्रि में नींद लेने को तैयार नहीं थे। नींद आने लगती तो चंक्रमण (चलना) शुरू कर देते। यह नहीं कि नींद लेकर विश्राम कर लें। हमारा शरीर थक जाये तो उसे विश्राम करवाते है। अर्थ क्या है विश्राम का? पूज्य गुरुदेव फरमाते थे- साधु का विश्राम क्या? मान लीजिये कि एक विषय का अध्ययन करते हुए आलस आ गया, सुस्ती आने लगे तो उसे छोड़कर दूसरा विषय पढ़ने लग जाओ। आप देखेंगे, सुस्ती उड़ गई। विषय का परिवर्तन हुआ और परिवर्तन के साथ विश्राम हो गया। विश्राम का यह अर्थ नहीं कि निष्कर्मण्य हो जायें, कर्मरहित हो जायें।

भगवान महावीर ने तो यहां तक कहा है कि जब तक आत्मा में उत्थान, कर्म, बल, वीर्य पुरुषाकार पराक्रम है, आत्मा का कार्य साध लेना चाहिए। एक क्षण का भी विराम नहीं लेना चाहिए। हमारा श्रम परिश्रम का रूप धारण न करे, बल्कि विश्राम का रूप बन जाय। पर उसके लिए पहले दृष्टि-परिवर्तन की आवश्यकता है। वह परिवर्तन होगा निर्वेद से। पर निर्वेद नहीं आया तो वह श्रम करते-करते परिश्रम में उतर जाएगा। खिन्न-क्लांत हो जायेगा। वह थकान का अनुभव करने लगेगा, किन्तु जो विश्राम में जाता है, एक विषय को दूसरे विषय से बदल लेता है, उसे थकान नहीं आती।

आचार्य भगवन् अट्ठारह घंटे स्वाध्याय, ध्यान, मौन व समाज को मार्गदर्शन देने के लिए तत्पर रहते थे। वह भी पिछले समय में, जब शरीर साथ नहीं देता था, नहीं तो वे बीस घंटे सेवा देने को तत्पर रहते थे। इतनी प्रवृत्ति करने के बावजूद भी उन्हें थकान नहीं आती थी, यह क्या था?

खेद प्रवृत्तिओ करता थाकिये रे.....।

खेद कब होता है? जब प्रवृत्ति करते-करते थक जाय। किन्तु थके नहीं, प्रवृत्ति को भी विश्राम बना लें तो थकान नहीं होगी, वहां विश्राम का अनुभव होता है। ऐसा श्रमण-जीवन में होता है क्योंकि श्रमण श्रमशील होता है। कोई सोचे कि मैं तो अब साधु बन गया, क्यों गोचरी जाऊं? श्रावक बहुत भावना भाते हैं, थोड़ा, सा इशारा हो जाय तो ऊपर से नीचे भी उतरने की आवश्यकता नहीं। डायनिंग टेबल वहीं आ जायेगी। जो कहोगे, वह हाजिर हो जायेगा। वह सोच ले, जनता इतनी आती है, और कहती है हमें भी कुछ सेवा मिल जाय। क्योंकि उन्होंने शिक्षा ली है कि सेवा करोगे तो मेवा मिल जायेगा। पर मेवे को पचाने के लिए जठराग्नि मिलेगी या नहीं? अच्छा-अच्छा भोजन मिल जाय पर पाचनशक्ति ठीक नहीं हो तो वह मेवा क्या काम आवेगा? फिर क्या स्थिति बनेगी! अभी तो लोटा लेकर जाने की स्थिति भी नहीं है, तब तक तो हालत और खराव हो जायगी। अभी भी कमरे से अटैच्ड लेटरीन-वाथरूम चाहिये। कमरे से वाहर तक भी जाने की स्थिति नहीं है। थोड़ा-सा इंतजार संभव नहीं। नहीं तो पहले एक-एक किलोमीटर तक पैदल चले जाते थे, पर अव यह अवस्था नहीं रही क्योंकि सेवा से मेवा मिल जाता है पर पाचन ठीक नहीं। पाचनशक्ति कव ठीक होती है? सुमुख गाथापति का प्रसंग आपने सुना होगा कि- "विउलं असणं-पाणं खाइमं साइमं" कहां तैयार हो रहा है? यह नहीं कि वाजार से लेकर

आ गया। जैसे ही म.सा. हाजिर हों कि होटल में बेरे को आर्डर दे दिया और चीजें हाजिर हो गईं। यदि श्रावक का जीवन ऐसा हो तो क्या वहां साधु का जीवन सुरक्षित रह पायेगा? कई जगह सुनते हैं, गोचरी के लिए फिर भी दो-चार घर घूम लेंगे पर शरीर में इतनी ताकत नहीं कि पानी उठा कर ला सकें, तो स्थानक के कर्मचारी ही पूर्ति कर देते हैं। जिसका जीवन इस प्रकार सुख-सेलियेपन में आ गया तो यथार्थ में श्रमण कहलाने का उसे अधिकार ही नहीं। पर न तो कोई पूछता है न पूछने का साहस जुटा पाता है। चिन्तन कीजिये- हम श्रम कितना कर रहे हैं और विश्राम में आ रहे हैं या नहीं? श्रम करते-करते धीरे-धीरे परिश्रम में चले गये तो स्थिति बिगड़ जायेगी, क्योंकि वह तो संसार में परिभ्रमण कराने वाला है, और यदि दृष्टि में परिवर्तन आ गया, निर्वेद का भाव आ गया, तो निर्वेद आते ही जीवन का रूपान्तरण हो जावेगा।

आचार्य पूज्यश्री श्रीलाल जी म.सा. ७-८ वर्ष की उम्र में ही निर्वेद भाव में आ गये थे। परिवार वालों ने देखा कहीं छोरा हाथ से न निकल जाये, शादी कर दी। पर शादी के बाद भी वे ब्रह्मचारी रहे। कभी पत्नी का स्पर्श भी नहीं किया। घरवालों ने कहा उनकी धर्मपत्नी से- तुम तो उनकी पत्नी हो, अभी अकेले हैं, जाओ। वह गई और द्वार बंद कर दिया। पूज्यश्री श्रीलालजी म.सा. ने सोचा कि जो अभी साधु नहीं बने थे, अकेली स्त्री का संसर्ग खतरनाक है। यद्यपि साधु नहीं बने थे, गृहस्थ थे, स्वयं की धर्मपत्नी थी, पर जिसके जीवन में निर्वेद अठखेलियां कर रहा हो वह स्वयं पर नियंत्रण रखेगा ही। नारी का स्पर्श वह कैसे करेगा? बस, उन्होंने तत्काल मकान के बाहर जो पोर्च होता है, उस पर ऊपरी मंजिल से छलांग लगा दी। यह है- 'निर्वेद भाव की तीव्रता।' यह यदि हमारे जीवन में आता है तो वहां थकान नहीं रहती, बल्कि प्रवृत्ति में रुझान पैदा हो जाता है। कितने ही घंटे श्रम कर लें, पर मन थके नहीं। मन न थके, तो थकान कैसे आये? मन थके तो थकान आती है। वेसे तो मजदूर कहता है- ६ घंटे से ज्यादा काम नहीं करूंगा लेकिन समय आने पर दूसरी पारी और तीसरी पारी में भी हाजिरी देने को तत्पर हो जाता है। ऐसे में यदि उसे नींद आये तो चाय पानी लेकर काम कर लेता है। कहां ६ घंटे में थकान और कहां १८ घंटे से २४ घंटे काम करने को तैयार! कारण है पैसे का लोभ। श्रम न हो तो शरीर में बीमारियां घर कर जाती हैं।

अमेरिका का एक अरबपति जॉन्स, लाखों-अरबों का रोज भुगतान

करता था। हजारों कर्मचारी उसके यहां काम कर रहे थे। सेठजी को कोई श्रम नहीं करना पड़ता था। हालत हो गई खराब सेठजी की। पागलपन जैसी स्थिति बन गई। अनेक डॉक्टरों को दिखा लिया, अनेक हॉस्पीटल छान डाले। पैसा पानी की तरह बहा दिया, पर कोई इलाज कारगर नहीं हुआ। विचार करने लगा- क्या करूं, परेशानी बहुत बढ़ गई। रात को नींद नहीं आती। दिन में कई तरह के फितूर आते। मेरे खयाल से बहुत-कम लोग होंगे जिन पर कोई फितूर सवार न होता हो। जिनका शरीर तो बहुत-कम श्रम करता है पर मन इतना परिश्रम करता है, उनके साथ ऐसा ही होता है। जो तन तोड़कर परिश्रम करता है उसे थकान नहीं आती। शरीर निढाल हो जाता है, पर मन थकता नहीं, भले शरीर थक जाये। शरीर थकता कैसे है? मन की दौड़ के साथ शरीर भी दौड़े तो थकान नहीं आयेगी। एक रेलगाड़ी है, उसके दोनों ओर इंजन लगा दें। एक इंजन आगे खींचे और दूसरा पीछे खींचे तो वह कितनी चल पाएगी? शूं-शां, शूं-शां करके कभी इधर धक्का खायेगी, कभी उधर धकेली जाएगी। यही दशा हमारी है। मन किधर ही दौड़ता है और तन किधर ही दौड़ता है। मन की प्रवृत्ति कभी किध र होती है और कभी किधर, और इस खींचतान में तन निढ़ाल हो जाता है, पर मन थकता नहीं क्योंकि वह पावरफुल है। यदि तन भी गाड़ी के समान हो जाय तो थकान नहीं आयेगी। वह मन यदि निर्वेद की अवस्था में आ जाय तो थकान नहीं हो। फिर प्रवृत्ति दुःख देने वाली नहीं बने, बल्कि जीवन में नया जोश, नई उमंग, नया उत्साह पैदा हो और कहे- अभी मेरा हौसला बुलन्द है और मैं बहुत-कुछ कर सकता हूं।

जॉन्स से बहुत-से लोगों ने कहा कि वह डॉ. फेमेलिंग के पास चला जाये। वह एक मशहूर चिकित्सक था जो विकट से विकट बीमारी का इलाज करता था। लाइलाज बीमारी का इलाज भी उसके पास मिल सकता था। वह वहां गया, देखा लम्बी लाइन लगी थी, जैसे कोई राशन की दूकान हो। उसने डाक्टर के पास अपना परिचय कार्ड भेजा। डॉक्टर ने उत्तर भिजवाया- लाइन में लग जाओ। जब नंबर आयेगा तब प्रवेश होगा। लालबहादुर शास्त्री जैसे व्यक्ति कम मिलेंगे जो राशन की लाइन में खड़े हो जाते थे। आज तो कहेंगे हम तो ऊंचे पद पर हैं, राशन की लाइन में खड़े रहने की क्या आवश्यकता है? पर वे कहते- सारी जनता का जो अधिकार है, वही मेरा अधिकार है। सेठ जॉन्स को क्रोध आ गया- ये कैसे डॉक्टर हैं जो कहते हैं लाइन में खड़े हो जाइये।

मैं अमेरिका के इने-गिने व्यक्तियों में हूं। मेरा कोई लिहाज नहीं! नहीं कराना मुझे इलाज। तीन दिन तक गुस्से में उबलता रहा। फिर मित्रों ने कहा- यह डॉक्टर इलाज कर सकता है। अतः जाओ। एक सप्ताह के पश्चात् जब जॉन्स का मूड ठीक हुआ तो वह फिर डॉक्टर के पास पहुँचा। डॉक्टर ने सम्मानपूर्वक कहा- आइये सेठ जॉन्स! उसने कहा- मैं बीमार हूं, इलाज करवाने आया हूँ। डॉक्टर ने पूछा- मेरे इलाज पर आपको विश्वास है? जॉन्स ने उत्तर दिया- लोगों ने कहा है इसलिए आया हूं। आप इलाज करोगे और ठीक हो जाऊंगा तो विश्वास बनेगा। जैसे ही सेठ ने यह कहा, डाक्टर ने कड़ककर कहा- निकलो यहां से, मैं नहीं करता इलाज! सेठ साथ में कई लोगों को लेकर गया था। इतने लोगों के बीच में लम्बी फीस लेकर इलाज करने वाला डाक्टर ऐसा कह दे, आप सहन करेंगे क्या? उसके पास दूसरी बार जाने की तैयारी करेंगे क्या आप? आप कहें या न कहें, पर आपका अंतर कहेगा- नहीं जायेंगे। व्यक्ति की यह मनोवैज्ञानिक कमजोरी है। जो आपकी पहचान न करे, वह आपकी आंखों से उतर जाता है। आप उसे पसन्द करते हैं जो आपको पहचान ले।

आप अपने बारे में सोचिये। क्या ऐसा नहीं होता कि जो महाराज आपको पहचान लें वे अच्छे, नहीं तो उनके पास क्या जाना! एक बात सोचिये, क्या आप अपनी पहचान करवाने आते हैं यहां? महाराज की पहचान करना नहीं चाहते? महाराज की निगाहों में आ जायें इसके लिए क्या पहचान दोगे? किस आधार पर अपनी पहचान देना चाहते हैं? आज कोई व्यक्ति आ जाय तो क्या यह बताएंगे कि इनकी वहां फैक्ट्री है, ये बहुत दानवीर सेठ हैं? और महाराज उनसे पूछ लें- आपके जीवन में संसार से वैराग्य कितना है, तप-त्याग, स्वाध्याय कितना है? तब क्या कहेंगे? हम पहचान बताना भी चाहें तो क्या पहचान बताएंगे? क्या यह बतायेंगे कि निरन्तर परिश्रम में लगे हैं या विश्राम का क्षण भी चाहते हैं? अपनी पहचान बनाइये। वैसी पहचान हो गई तो फिर कहने की आवश्यकता नहीं रहेगी। आपका जीवन ही आपकी पहचान हो जायेगा। पहचान कराने म.सा. के सामने नहीं जाना पड़ेगा। पहचान अपने-आप हो जायेगी। आप सामायिक-पौषध करते हैं और साधु जीवन से परिचित हो गये हैं तो फिर आपको यह लगेगा ही नहीं कि मेरी पहचान होनी चाहिये, क्योंकि तब आपको आवश्यकता ही नहीं लगेगी पहचान की। अपने जीवन में आपने

साधु जीवन की पहचान कर ली तो फिर अपनी पहचान के लिए आपका मन बेताब ही नहीं होगा।

आज हम साधु जीवन और श्रावक-जीवन को नहीं पहचान पाये हैं, इसलिए चाहते हैं कि जैसे-तैसे परस्पर तार जुड़ जायें। पर तार कैसे जुड़ता है? हर तार में करण्ट नहीं होता। जिसमें करंट का प्रवाह हो सकता है, उसी में करंट आएगा। यदि आपकी तैयारी है तो फिर देखिये कितनी ऊर्जा प्रवाहित होती है। यदि उतनी ऊर्जा नहीं आ रही है तो खोज करिये कि क्या कमी है? न करंट की कमी है, न जीवन में कमी है। जीवन में निर्वेद-भाव प्राप्त हो गया तो यह भाव बनेंगे ही नहीं कि पहचान होनी चाहिये। आपको संतोष हो जायेगा कि मैंने साधु जीवन को पहचान लिया है। फिर कोई तकलीफ की बात भी नहीं रहेगी।

बात मैं कह रहा था डॉ. फेमेलिंग की। सेठ सोच रहा था कि इसे व्यक्ति की पहचांन नहीं है। इसने मुझे मामूली आदमी समझ लिया। सेठ घर चला तो गया, पर दिन-ब-दिन उसकी हालत खराब होती चली गई। रात-रात-भर नींद नहीं आती थी। किसी ने फिर कहा- तुम्हें डॉ. फेमेलिंग के पास ही जाना चाहिये। सेठ क्या कहते? मन के भाव मन में छुपाकर बोला- डॉक्टर को फुर्सत ही कहां है? शुभचिन्तकों के बार-बार कहने पर वह फिर चला गया। पर डाक्टर को तब भी फुर्सत नहीं थी। कह दिया- तीन दिन बाद आइयेगा। जॉन्स को बहुत क्रोध आया। उसके अहंकार को ठेस लगी और उसका अहंकार फुफकार उठा- क्या ऐसे डाक्टर के पास जाऊं जो इतनी बार ठुकरा दे?

सुना जाता है कि श्री उदयसागरजी म.सा. चाहते थे कि श्री केशरीमलजी श्रावक, जो अच्छे जानकार थे, उनसे वाचनी लें। उन्होंने स्वयं जाकर कहा- मैं वाचनी लेना चाहता हूं। जैसे हम यहां आये हैं और मुथाजी के पास जायें कि हमे वाचनी लेना है और वे कहें कि टाइम नहीं है, दूसरी बार जायें और वे फिर कह दें- टाइम नहीं है, तो फिर तीसरी बार जाने के लिए कदम उठेगा? पर आचार्यश्री उदयसागरजी म.सा. ६ बार जाकर आये और हर बार वे कहते रहे कि- कह दिया न कि टाइम नहीं है, फिर बार-बार क्यों आते हो? मेरे पास टाइम नहीं है। सातवीं बार जब वे पहुंचे तो आचार्यश्री को उन्होंने वंदन किया और कहा- "मैं आपको वांचनी दूंगा। आप पात्र हैं।" ऐसे परीक्षा लेने वाले और परीक्षा देने वाले विरले ही होते हैं। आज कोई ऐसा कहे तो कहेंगे

उन पर स्नेह है, इनको टाइम दे दिया हमें टाइम नहीं देते और न जाने कैसी-कैसी बातें कहेंगे। सोचिये, क्या यही हमारी निर्वेद की भावना है? ध्यान रखिये कि यदि हमने साधु-जीवन की पहचान नहीं की और हम केवल अपनी पहचान कराने के लिए उत्सुक रहे तो काम नहीं बनेगा।

जॉन्स लौट गया। विचार कर रहा था- गजब का आदमी है। इधर ३-४ दिन निकले कि उसके विचारों में परिवर्तन आया। उसने सोचा- डाक्टर लालची-लोभी नहीं है। नहीं तो अभी तक मुझ से बहुत-सा पैसा ऐंठ लिया होता। लिख देता परची, १५ दिन तक ये दवा लो, फिर १५ दिन बाद दवाई बदल देता और कहता ठीक न हो तो फिर १५ दिन बाद आ जाना। इसका मतलब है कि वह मुझसे सही बात कहता रहा है तब फिर मैं गुस्सा क्यों करता हूं। जब वह नैतिकता की बात कहता है कि लाइन में लग जाओ तो मुझे गुस्सा नहीं करना चाहिये। उसने कोई गलती नहीं की। उसके सामने पूरी रील घूम गई। अब वह अकेला डाक्टर के पास पहुंचा। डाक्टर ने कहा- पधारिये! जॉन्स ने कहा- मुझे आप पर विश्वास है, पक्का विश्वास है। आप जब कहें, मैं इलाज करवाने के लिए प्रस्तुत हूं। डॉ. फेमेलिंग ने देखा- बस, काम हो गया। यदि पहले इलाज करता तो वहां अहं घुसा हुआ था। जब तक अहं मरेगा नहीं, दवा असर नहीं करेगी। अहं के जहरीले जर्म्स नुकसान करने वाले होते हैं। फसल के लिए पहले भूमिका तैयार करनी होती है। कांटे-भाटे दूर करके फिर बीज बोये जाते हैं। वैसे ही हमारे भीतर के शल्य दूर होंगे तब बीमारी का इलाज होगा। डाक्टर ने कहा- मैं इलाज कुछ दिन बाद करूंगा, मैंने जांच पूरी कर ली है, पर मैं पहले तुम्हें कुछ दिशा-निर्देश देना चाहता हूं, वैसी भूमिका तैयार हो गई तो एक माह में सारी बीमारी दूर हो सकती है। जॉन्स ने पूछा- बताइये, भूमिका क्या होनी चाहिये? डाक्टर ने कहा- तुम अपने हाथ से एक मकान बनाओ। उसमें किसी का भी सहयोग नहीं लेना है। ईंट, चूना, पत्थर, सीमेंट आदि लाने का सारा का सारा काम आपको स्वयं ही करना है। चाहे आप छोटा-सा मकान ही बनाओ, पर किसी का भी सहयोग नहीं लेना है। जॉन्स को बीमारी ठीक करनी थी इसलिए पूरी मेहनत से भिड़ गया काम करने में। इतनी मेहनत करता था पर थकान नहीं आती थी, क्योंकि अब परिश्रम नहीं हो रहा था। अब हो रहा था- विश्राम। ओहो! आपको क्या चाहिये? आजकल लोग अपने-अपने मन की करते हैं, और लिख देते हैं- अमुक मुनि की प्रेरणा से।

जबकि उन्हें- जिनका नाम प्रेरणा-प्रदाता के रूप में लिखा होता है, ज्ञात ही नहीं होता है कि पुस्तक छपी है और उन्होंने कब प्रेरणा दी? और वे प्रेरणा क्यों देने लगे? पर हमने मान लिया है कि नाम लिख देंगे तो संतों की मेहरबानी रहेगी। ऐसी भी स्थितियां देखने में आती हैं- "मुझे तो संतों ने बताया- मैंने उनके आशीर्वाद से.... ।"

जहां केशी श्रमण का प्रसंग आता है, प्रदेशी राजा के लिए कहते हैं कि- रमणीक होकर अरमणीक नहीं होना। जब वह कहता है- मैं अब विश्राम में आना चाहता हूं, दानशाला खुलवाना चाहता हूं, तब केशी श्रमण ने यह नहीं कहा कि ओहो! अब तू परोपकार का कार्य कर रहा है।

जेय दाणं पसंसति, वहमिच्छंति पाणिणो।
जे य णं पडिसेहंति वित्तिच्छेयं करेन्ति ते।।

ऐसे दान का अनुमोदन किया जाय तो वहां आरंभ का संबंध जुड़ता है और यदि निषेध किया जाता है तो बहुतों को अंतराय लगती है। ऐसे प्रसंग में अपने मुंह पर ताला लगा लेना चाहिये। पर प्रदेशी राजा ने यह नहीं कहा कि केशी श्रमण के आशीर्वाद से यह दानशाला खुलवाई है क्योंकि जब साधु-जीवन का परिचय प्राप्त हो जाता है तो वे ऐसा धन जोड़ने का काम नहीं करते।

जॉन्स सेठ ने दिन-रात मेहनत की और एक छोटा मकान तैयार कर लिया। फिर वह डाक्टर के पास पहुंचा और उन्हें बताया- मैंने मकान तैयार कर लिया है। तब डाक्टर ने कहा- अब तो बीमारी रही नहीं है। जो भूमिका तैयार की थी उससे बीमारी चली गई। आज बीमारियां क्यों आती हैं? घर-घर में हर काम के लिए नौकर लगे हैं। पानी भरने वाली नौकरानी, भोजन बनाने वाली नौकरानी, पानी पिलायेंगे तो भी नौकर। हमें फुर्सत कहां है? कभी संत आ जाये तो पूरण सेठ की तरह कहेंगे- "अरे-अरे, म.सा. को दे देना।" आज के सेठजी की हालत यह है। वे खड़े-खड़े, डरते-डरते देते हैं, हाथ धूजने लगते हैं- कहीं गिर नहीं जाय। वे देना जानते नहीं। कभी आ जाय तो सेठानी कहेंगी- महाराज! ये नहीं दे सकेंगे, असुसता कर देंगे। करोड़ों की संपत्ति के मालिक हैं, पर सुपात्रदान नहीं दे सकते क्योंकि देने की कला जानकारी में नहीं है। जॉन्स ने स्वीकार किया- मेरी बीमारी ठीक हो गई है। दृष्टिकोण में परिवर्तन हुआ तो

सारा ढांचा बदल गया। यदि बीमारी दूर करनी है तो श्रमशील बन जाओ और यदि प्रेम के साथ निर्वेद की स्थिति भी आ जाये तो जीवन धन्य बन सकता है।

अतः स्वाध्यायी बंधु चिन्तन करें। श्रम-परिश्रम में न अटक कर जीवन में हर क्षण, हर पल ऐसे प्रयास करें कि विश्राम में ही रहें। शरीर के साथ ही मन की प्रवृति भी हो। शरीर अन्यत्र व मन अन्यत्र लगा रहा तो मन शरीर को थका देगा और मन को अपने साथ जोड़ लिया तो श्रम परिश्रम न बन कर विश्राम बन जायेगा। इस प्रकार का अभ्यास बना, तो जीवन को धन्य-धन्य बना लेंगे। एक कहावत का ध्यान रखें-"काम ही पूजा है"। पूजा का मतलब है अभीप्सित को प्राप्त करने का माध्यम। यह अभीप्सित चाहे भगवान हो, चाहे मुक्ति। सांसारिक सफलता कि लिये भी श्रम तो करना ही पड़ता है। यह श्रम यदि इस रूप में किया जाय कि वह विश्राम बन जाय तब तो समझिये दोनों हाथों में लड्डू हैं। इस लोक का जीवन भी सफल और उस लोक का सुखद जीवन भी सुनिश्चित। किसी भी रूप में देखें, दर्शन कोई भी हो, सिद्धान्त किसी भी धर्म के हों परन्तु श्रम को परिश्रम न बना कर विश्राम बनाने वाला धन्य हो जाता है।

❑❑

संवेग द्वारा अनुत्तर धर्म की प्राप्ति

संभव देव ते धुर सेवो सवे रे......।

बाजार में वही सिक्का चलता है, जिसके दोनों ओर छाप हो। एक तरफ छाप वाला सिक्का चल नहीं पाता। नोट, जिस पर रिजर्व बैंक की छाप लग गई हो, वह कागज यदि सौ रुपये का नोट है तो उसकी कीमत सौ रुपये बन गई। पर उसकी ही सानी का अन्य कागज लेकर बाजार में जायें तो बाजार में उसकी कोई कीमत नहीं मिलती। कीमत कागज की नहीं, छाप की होती है। छाप के आधार पर यदि वह सौ का है तो सौ की और पांच सौ का है तो पांच सौ की उसकी कीमत होती है। वैसे ही सम्यक्-दर्शन अपने-आप में छाप है, उसके दोनों तरफ संवेग और निर्वेद दोनों की छाप हैं। हालांकि ये गिनती में दो हैं और हैं भी सही दो। जैसे नाली के बीच में पानी चल रहा हो और कहीं कचरा आ जाय तो पानी रुक जाता है, पर यदि कोई कचरा हटा दे तो हटाने से पानी वापिस चलने लग जाता है। जो कचरा जमा पड़ा है, उसका हटना अलग है और पानी का बहना अलग है। वैसे ही संवेग और निर्वेद हालांकि एक पदार्थ के दो पक्ष हैं, किन्तु हैं भिन्न-भिन्न। जैसे नोट पर दोनों तरफ एक समान नहीं लिखा रहता, अलग-अलग लिखा रहता है, वैसे ही संवेग और निर्वेद अलग-अलग हैं पर इनमें परस्पर गहरा संबंध है। यदि संवेग है तो निर्वेद आयेगा। निर्वेद संवेगपूर्वक होता है। पहले संवेग का भाव क्यों कहा गया? कचरा हटेगा तो पानी बहेगा, इसलिए निर्वेद को पहले आना चाहिये। वस्तुतः जब संसार से उदासीनता होगी तब मोक्ष की भावना जगेगी। इसलिए संवेग की उत्पत्ति निर्वेद से होती है। वह कार्य है। जैसे नींवं के बिना मकान नहीं बनता किन्तु हम पहले नींवं नहीं देखते हैं। मकान देखते हैं। मकान है तो नींवं तो होगी ही। मकान देखने से यह भी निश्चित हो जाता है कि मकान यदि इतना ऊंचा है तो इसकी नींवं उतनी ही गहरी होगी। इस प्रकार मकान की ऊंचाई से नींवं की गहराई का ज्ञान कर

लेते हैं। वहां निर्वेद कारण है, संवेग कार्य है जिसे मकान कहा जा सकता है। बिना निर्वेद के संवेग बन नहीं सकता। जब तक संसार से उदासीनता नहीं बनेगी तब तक संवेग को जानेंगे कैसे? मोह-माया का कचरा हटे नहीं तो संवेग का पानी बहे कैसे? इसलिए उत्तराध्ययन सूत्र के २६वें अध्ययन में उसके फल का निरूपण करते हुए कहा गया है-

"संसारमग्गं वोच्छिंदइ, सिद्धिमग्गं पडिवन्ने य हवइ।"

वह संसार के मार्ग का छेदन करता है और उसके बाद कहा है- सिद्धि मार्ग में प्रवृत्त अथवा गतिशील होता है। यहां उसी बात को दोहराया है। मिथ्यात्व का हटना पहले अनिवार्य है। संसार का मार्ग क्या है? हमने मार्ग जाना या नहीं? बाहर के मार्ग में भी कई बार गफलत हो जाती है। हम बहुत-सी जानकारी रखते हैं। रोज चल भी रहे हैं, पर कभी सोचा या नहीं कि अभी तक जो यात्रा हो रही है वह किधर हो रही है? इसी प्रकार अंतरयात्रा का भी विचार करें कि वह यात्रा संसार मार्ग में हो रही है या मोक्ष मार्ग में? जब तक इसका बोध नहीं होता है, गति कैसे सही होगी? संसार का मार्ग है मो+ह का मार्ग। इस मो+ह में 'ह' के स्थान पर 'क्ष' लाना है। कितना नजदीक है वह। ह के आगे का अक्षर ही 'क्ष' है। उसे 'मो' के सामने रख दिया। 'मो' के साथ रहे 'ह' का क्षय हुआ और 'ह' के स्थान पर 'क्ष' आ गया तो 'मोक्ष' हो गया। बस, मोह का क्षय ही मोक्ष कहा गया है। मोह के क्षय से अरिहंत होते हैं उन्हें एक अपेक्षा से सिद्ध भी कहा गया है। यथा-

"सिद्धाणं णमो किच्चा, संजयाणं च भावओ।"

अर्थात् सिद्ध भगवान् को नमस्कार करके, संयतियों को नमस्कार करता हूं। यहां पर प्रश्न उठता है कि इसमें सिद्ध व संयती, दो को ही लिया है, फिर अरिहंत को किसमें लें? इसका उत्तर है कि अरिहंत को सिद्ध-स्वरूप में भी लिया है और संयती में भी। वे सिद्ध इसलिए हैं कि अपने-आप में कृतकृत्य हैं, उनका सिद्धिगमन निश्चित है और जहां सिद्ध का कथन किया जाता है, वहां कहा गया-

"सिज्झइ, बुज्झइ, मुच्चइ, परिवित्वावइ, सव्व दुक्खाणभंतं करेइ....।"

कि अमुक आत्मा सिद्ध होती है, बुद्ध होती है, मुक्त होती है। यदि पहले सिद्ध हो गयी तो बुद्ध अर्थात् केवलज्ञान कब होगा? वहां सिद्ध का अर्थ चरम शरीर से लिया है कि वह उसका सिद्ध है, अर्थात् निश्चित है। उसके भव

का छेदन करना सिद्ध है। अब नये शरीर में प्रवेश नहीं होगा, क्योंकि संसार का छेदन कर दिया। उसी प्रकार मोह का क्षय कर दिया, अब निश्चित है कि उसी में उसे सिद्धि प्राप्त होनी है, इसलिए उन्हें सिद्ध कहा जा सकता है। उक्त स्थिति से सिद्ध के साथ अरिहंत को भी नमस्कार का प्रसंग बन गया। अब वे संसार के मार्ग से हट चुके हैं, अब वे संसार में रुलने वाले नहीं हैं। अब गति किस दिशा में होगी? जब तक गति अधोगामी रही थी, नीचे की ओर प्रवाहित हो रही थी तो वे भी संसार में रुलते रहे और जैसे ही उनकी शक्ति और गति ऊर्ध्वगामी बनती है, ऊर्ध्वगामिता करते हुए वे सिद्धि-क्षेत्र के निकट पहुंचने की स्थिति में आते हैं और एक दिन मुक्ति को प्राप्त होते हैं। अरिहंतो को संयती में भी ग्रहण किया जाता है क्योंकि वे संयती तो हैं ही। इसलिए हम भगवान् महावीर को श्रमण भगवान् महावीर कहते हैं। अतः अरिहंतों का समावेश दोनों पदों में किया जा सकता है। सिद्ध या संयती बनने के लिए संवेग-निर्वेद को आवश्यक माना है। यदि ये नहीं हैं तो गाड़ी आगे नहीं बढ़ेगी। जैसे पेट्रोल हो तो गाड़ी बढ़ती है वैसे ही "निर्वेद मोक्ष-मार्ग की गाड़ी का पेट्रोल है।" जिससे गाड़ी चलती है। यदि वह निकल गया तो गाड़ी रुक जायेगी। इसी प्रकार संसार की गाड़ी में चलने के लिए पेट्रोल और ग्रीस हैं- 'विषय और कषाय' कषाय का पेट्रोल भर लिया और विषय की चिकनाई (ग्रीस) प्रत्येक कल-पुर्जे पर लगा ली तो कितने ही समय से संसार में चलते रहो। सामान्य गाड़ी के कल-पुर्जे घिस जाते हैं किन्तु संसार-मार्ग की गाड़ी के, जो अनादिकाल से चल रही है, उसके कल-पुर्जे घिसे नहीं हैं, क्या कारण है? कारण है कषाय का पेट्रोल ऐसा है जो कभी खत्म नहीं होता है, साथ ही विषय का ग्रीस कल-पुर्जो पर रोज लगाते है। जब रोज ग्रीस मिलता है तो कल-पुर्जे घिसते नहीं हैं। यदि हम अपनी गाड़ी को विषय व कषाय का ग्रीस व पेट्रोल निरन्तर देते रहें तो यह गाड़ी रुकने वाली नहीं है। इसकी यात्रा का अन्त आने वाला नहीं है। यदि इस यात्रा का अंत करना है तो निर्वेद का पेट्रोल व संवेग का ग्रीस लगाइये। गाड़ी भी वही है, ड्राइवर भी वही है पर अब तक जो संसार में दौड़ रही थी वह मोक्ष की ओर दौड़ने लगेगी। शरीर गाड़ी है, आत्मा ड्राइवर है, पर हमने पेट्रोल बदल दिया है। गाड़ी व ड्राइवर वही हैं, पेट्रोल बदल दिया है। एक पेट्रोल सड़क पर गाड़ी को चलाता है और एक पेट्रोल आकाश में उड़ान भराने वाला है। जैसे ऐरोप्लेन का पेट्रोल अलग होता है और स्थल पर चलने वाले वाहनों का पेट्रोल अलग होता

है वैसे ही संसार का पेट्रोल अलग व मोक्ष का पेट्रोल अलग है। इसलिए निर्वेद प्राप्त करने का प्रयत्न करें।

राजकुमार सुबाहुकुमार की दीक्षा लेने की भावना बनी। आप जानते हैं कि दीक्षा की भावना बनने पर सामान्यतः माता-पिता संतान को दीक्षा-पथ से विचलित करना चाहते हैं और इस हेतु वे संतान को सांसारिक भोगों की ओर आकर्षित करने का प्रयास करते हैं। सुबाहुकुमार के माता-पिता भी उन्हें राजा बनाना चाहते थे। उनका विचार था कि राजा बन कर यदि जीवन के साथ घुल-मिल गया तो दीक्षा की बात भूल जायेगा। तरकश में जितने तीर भर रखे हैं, उनमें अंतिम और सबसे शक्तिशाली तीर है राजा बनाने का आकर्षण। मोह के वशीभूत पारिवारिकजन अंतिम तीर चलाने में भी संकोच नहीं करते। यदि वह भी विफल हो जाये फिर क्या हो? सुबाहुकुमार के पिता ने भी अंतिम तीर छोड़ा- तुम्हारी दीक्षा लेने की भावना है तो कोई बात नहीं, पर एक बार हम चाहते हैं कि राजसिंहासन पर तुम्हें देख लें। एक बार चाल चल गई और सुबाहुकुमार नये सम्राट् बना दिये गये। तब उनके सामने हाथ जोड़ कर कहा- अब आपकी क्या आज्ञा है, बताइये। सम्राट् बनने के बाद माता-पिता के ऐसे निवेदन पर सम्राट् सुबाहु ने कहा- कुत्रिकापण से ओघे-पातरे मंगवाये जायं, नाई को बुलवाया जाय। कितनी गहरी बातें हैं कि जो नाई आता है वह भी खुले मुंह नहीं आता, वह भी मुंहपत्ति धारण करके आता है। अभी सुबाहुकुमार साधु बना नहीं है, बनने वाला है तो भी वह वहां मुंहपत्ति बांध कर, यतनापूर्वक आता है। यह मुंहपत्ति केवल अहिंसा की ही नहीं, सत्य की भी सूचक है। पुराने समय में जो लोग राजा-महाराजा के वहां जाते थे, वे खुले मुंह बात नहीं करते थे। मुंह के सामने वस्त्र रखते थे।

तीर्थंकर देवों ने पांच अभिगम में उत्तरासन धारण की बात कही है। मस्जिद में जाने वाले माथा ढके बिना नहीं जा सकते। वहां कभी आप भी देखने जायेंगे तो वहां माथा ढक लेंगे, वहां शर्म नहीं आएगी। पर यहां पर कहें- सचित्त का त्याग, अचित्त का विवेक, उत्तरासन धारण करना है तो आगे-पीछे तकने लग जायेंगे।। जरा विचार कीजिये कि जब हम संसार के दूसरे क्षेत्र में कानून-कायदों का पालन करते हैं तो धर्म के कानून-कायदों का पालन करने में शिथिल क्यों हैं? वहां हमारा अहं टकराने लगता है कि आज तक मुंहपत्ति बांधकर दर्शन नहीं किये, अब क्यों? हम नहीं लगायेंगे। यह सोच कल्याण का मार्ग नहीं है। यदि

हम नहीं लगायेंगे तो विचार कीजिये कि ऐसे भाव हमारी गाड़ी को मोक्ष की ओर बढ़ायेंगे या संसार-मार्ग की ओर? संसार में रहते हुए छोटी-छोटी बातें, जिनकी कोई महत्ता नहीं, उनमें उलझकर नई-नई गांठें बांधकर चलना क्या उचित है? ऐसी बातें कषाय का पेट्रोल भरने वाली होती हैं। इनके विपरीत यदि निर्वेद का स्वरूप आ गया तो गाड़ी संसार में नहीं, मोक्ष-मार्ग की ओर बढ़ेगी। चाहे साधु बनें या श्रावक, पर देखना यह होता है कि पेट्रोल कौनसा है? यदि गलत पेट्रोल भर लिया तो अपेक्षित मार्ग पर गाड़ी नहीं चलेगी। इसलिए ऐसी तपस्या बहुत कर लेने का भी कोई लाभ नहीं-

'मासे-मासे उ जो बालो कुसग्गेणं तु भुंजए
ण सो सुयक्खाय-धम्मस्स कलं अग्घइ सोलसिं॥'

(उत्तराध्ययन. ९/४४)

एक मासखमण नहीं, एक मास पूरा हुआ, पारणा किया और पारणे में कुश के अग्रभाग जितना कण लेकर फिर मासखमण। और कहीं ऐसा भी आता है कि दूब का अग्रभाग लेकर फिर मासखमण। इस प्रकार की तपस्या का क्रम चलता रहता है। भगवान् से पूछा गया- ऐसी तपस्या करने वाला मोक्ष-मार्ग के कितना नजदीक चला गया? तो उन्होंने कहा- एक कदम भी आगे नहीं बढ़ा। तपस्या हो गई किन्तु वैराग्य नहीं। यदि निर्वेद का पेट्रोल भर लें तो....।

गजसुकुमाल राजकुमार को कृष्ण वासुदेव अपने साथ अरिष्टनेमि भगवान् के चरणों में लाते हैं। बीच मार्ग में कन्या को देखा। विचार किया, यह कन्या सुन्दर है। इसकी शादी गजसुकुमाल से कर दी जाय तो ठीक रहेगा। एक तरफ स्वप्न देखे जा रहे हैं और गजसुकुमाल भी अनभिज्ञ नहीं है कि कृष्ण मेरे लिए क्या स्वप्न संजो रहे हैं। पर क्या वे स्वप्न यथार्थ में बदले? अरिष्टनेमि भगवान् के समवसरण में पहुंचे, एक प्रवचन में ही गाड़ी की सफाई कर ली और निर्वेद का पेट्रोल भर लिया। अब उन्हें शादी पसन्द है क्या? उनकी शक्ति, उनके भाव परिवर्तित हो गये। अब संसार की दिशा में गमन हो ही नहीं सकता। वैसे ही हमने यदि भीतर की ऊर्जा को, अंदर की शक्ति को परिवर्तित कर दिया, जो अधोगामिनी बन रही थी उसे ऊर्ध्वगामी बना दिया तो फिर विषय-वासना में भावना डोल नहीं सकती। ऐसा कर लेने वाला अपनी गति से आगे बढ़ता चला जाता है।

जिसे भोग की सामग्री प्राप्त है और वह उसका त्याग करता है तो

उसके लिए तो शास्त्रकार कहते ही हैं कि 'लद्धे वि पिट्ठि कुव्वइ' किन्तु जिसे भोग के साधन प्राप्त नहीं हैं तब भी वह उनका त्याग करता है तो उसका त्याग कम नहीं हैं क्योंकि वे साधन उसे कभी भी मिल सकते हैं किन्तु उसने अपनी इच्छाओं, कामनाओं को विराम दे दिया है। आपने कथा सुनी होगी- मगध सम्राट् श्रेणिक लौट रहे थे। रास्ते में एक साधु मिले। वे हाथी से नीचे उतरे, वंदन किया। सांमन्त विचार करने लगे- ओह! यह तो लकड़हारा है। कल तक लकड़ियां लाकर बेचता था। आज कपड़े बदल लिये तो सम्राट् वंदन कर रहा है! वंदन एक घंटे बाद करते हैं, या कपड़े बदलते ही तत्काल करते हैं? आप कहेंगे- तत्काल। पर ऐसा नहीं है। कपड़े बदलने से कोई वंदनीय नहीं बनता। वह भी वंदनीय बना था, कपड़े बदलने से नहीं, किन्तु भीतर की वृत्ति, जो संसार के अभिमुख थी, उसे परिवर्तित कर देने के कारण। भीतर की वृत्ति को संसार के मार्ग से सिद्धि की दिशा में मोड़ देने के कारण।

''सिद्धिमग्गं पडिवज्जइ।''

गति परिवर्तित हो जाती है इसलिए आप नमस्कार करने लग जाते हैं। अंतर का परिवर्तन कपड़े के साथ ही होता है तो गाड़ी को मंजिल तक ले जाने वाला होता है। यदि अंतर का परिवर्तन न हो, कपड़े बदल लिये किन्तु कषाय की भावना धू-धू करके जलती रहे तो मात्र कपड़े कल्याण नहीं कर सकते, मोक्ष तक नहीं पहुंचा सकते। मोक्ष तक पहुंचने की स्थिति में निर्वेद की आवश्यकता होती है। लकड़हारे ने दीक्षा ली वह निर्वेद भावपूर्वक थी। उसे वंदना करते देखकर सामन्तों के जो विचार बने थे, उन्हें अभयकुमार ने भांप लिया था। घर पहुंच कर उसने रत्नों की ढेरियां लगवा दी और घोषणा करवा दी कि जो भी जीवनपर्यंत अहिंसा का पालन करे, वह रत्न की ढेरी ले जाये। जो जीवनपर्यन्त सत्य का पालन करेगा वह एक ढेरी ले जाय। इसी प्रकार अचौर्य आदि का पालन करने वाले के लिए भी रत्नों की एक ढेरी ले जाने की घोषणा करवा दी। कितने लोग आये? क्या लोगों को धन नहीं चाहिये था? धन तो चाहिये था पर पूर्ण अहिंसक आदि बन जाने के बाद, फिर धन उनके किस काम का रह जाता? इसलिए कोई नहीं आया। जब कोई नहीं आया तब अभय ने सामन्तों से भी पूछा- क्या तुम्हें धन नहीं चाहिये? उन्होंने कहा- धन तो चाहिये पर अहिंसक बन कर धन का क्या करेंगे? पूर्ण अहिंसक को धन से क्या प्रयोजन?

तब अभयकुमार ने समझाया- जिसने त्याग किया है उसे कम मत समझो। उसने अपनी इच्छाओं का निरोध किया है। जब बाढ़ आती है तो पानी को रोक पाना कठिन होता है, किन्तु रोका जा सकता है, यदि कोई रोकना चाहे।

इंजीनियर उसे रोकने का उपाय बता दें तो आप कहेंगे कि ये अपने विषय में प्रवीण हैं। यह क्षमता इंजीनियर में होती है। वह जिधर चाहे उधर प्रवाह को मोड़ दे सकता है। हर व्यक्ति बांध नहीं बना सकता। इसी प्रकार हर-कोई इच्छाओं का दमन नहीं कर सकता। कोई वीर पुरुष ही अपनी इच्छाओं का दमन या इच्छाओं का त्याग कर सकता है और प्रतिज्ञा का सशक्त बांध बांध सकता है। वह भले शरीर से कमजोर हो, धन-वैभव की अपेक्षा से निर्धन हो, किन्तु यहां इससे कोई फर्क नहीं पड़ता। यहां तो देखा जा सकता है कि उसमें वैराग्य का या निर्वेद का पेट्रोल कितना है! उसकी गाड़ी की रफ्तार कैसी है! आर्थिक दृष्टि से भले वह निर्धन है पर धर्म की दृष्टि से वह बहुत धनवान है।

पूर्णिया श्रावक की एक सामायिक की दलाली में जहां ५२ डूंगरी भी कम पड़ती हो तो वहां एक घंटे के साधु जीवन वाला कितनी सम्पत्ति का मालिक होगा? आपकी सामायिक दो करण, तीन योग की है, पर साधु के तीन करण, तीन योग से है। इसलिए यह न सोचें कि निर्धन ही साधु बनता है। कई बार बहनों की दीक्षा होती है तो समाज के भाई सोच लेते हैं कि उनके परिजनों के पास दहेज देने की शक्ति नहीं होगी तो महाराज बना दिया होगा। बन सकते हैं ऐसे? कितने तैयार होंगे? कभी परिस्थितिवशात् वे भले ही जीवन का उत्सर्ग कर दें, पर साधु बनने को तैयार नहीं होतीं। ऐसी बालाएं कष्ट सह लेंगी पर निर्वेद की भावना नहीं बना पाती, परिणामस्वरूप त्याग-वैराग्य की ओर नहीं बढ़ पाती। त्याग-वैराग्य की ओर तब तक नहीं बढ़ा जा सकता, जब तक कि निर्वेद न आ जाय।

बंधुओ! जागिये, जीवन का निरीक्षण कीजिये कि हमारे भीतर निर्वेद आया है या नहीं, संवेग के भाव जगे हैं या नहीं? हम केवल किताबी कीड़े हैं या हमारे भीतर की शक्ति जाग्रत हुई है? हम केवल पुस्तकों के आधार पर तो नहीं चल रहे हैं? हमारे भीतर निर्वेद का भाव जगना चाहिये।

❑❑

धम्मो मंगल मुक्किट्ठं

संभव देव ते धुर सेवो सवे रे.....

तीर्थंकर देवों की चरणोपासना एक दृष्टि से बहुत सहज है, सरल है। आप संतों के पास पहुंचते हैं, चरण-स्पर्श कर लेते हैं और स्वयं को धन्य-धन्य, कृतकृत्य मान लेते हैं। उससे भी लाभ होता है, किन्तु केवल चरणों का स्पर्श आत्मकल्याण में पूर्ण सहयोगी नहीं बनता। कवि आनंदघनजी ने भावना व्यक्त की है कि उनकी उपासना, सेवा या भक्ति ध्रुव हो। अर्थात् उसके बीच में बाधा न पड़े। विचारणीय यह है कि इस प्रकार की सेवा, उपासना कैसे हो? जब सेवा की बात कही जा रही है तब यह जिज्ञासा होती है कि हम तीर्थंकर देवों की क्या सेवा कर पाते हैं? हम उनका कार्य तो कर नहीं सकते और यहां अभी उनकी विद्यमानता भी नहीं है, फिर सेवा कैसे की जाय? तब यह कहा जा सकता है कि वर्तमान में न कर सकें तो कोई बात नहीं, किन्तु जिस समय तीर्थंकर देवों की उपस्थिति बनी हुई होती है, उस समय तो कर सकते है? तब तुरन्त यह पूछा जायेगा कि उस समय कैसे कर सकते है? क्या श्रावक उनके हाथ-पैर दबाने या गोचरी-पानी लाने की सेवा कर सकते हैं? तब कहा जायेगा- नहीं ऐसे तो नहीं करनी होती है। फिर किस प्रकार की सेवा कर सकते हैं? उत्तर होगा कि हम बाह्य सेवाओं के रूप में कार्य नहीं कर सकते। कोई सोचे, उनकी मूर्ति बना कर पूजा-आरती कर लूं, तो यह भी भ्रांति होगी। यदि हमारा भाव नहीं जुड़ा तो आरती उतारने से सेवा नहीं होगी। आरती तो लोग प्रतिवर्ष लक्ष्मी मैया की भी उतारते हैं, पर आरती उतारने से तो वे धनवान, करोड़पति या अरबपति नहीं हो जाते। बहुत से ऐसे मिलेंगे जिनका आरती उतारने से पूर्व जो स्वरूप था वही बाद में भी रहता है। कभी ऐसा भी होता है कि स्थिति पूर्व की स्थिति की तुलना में बिगड़ भी जाती है। तब यह मापदंड नहीं रहा कि आरती उतारने से कल्याण हो जाता है। देखना यह होता है कि यथार्थ में हम आरती उतार रहे

हैं या नहीं? अर्थात् आरती के साथ हमारी भावना जुड़ी है या नहीं?

भगवान् महावीर से प्रश्न किया गया- भगवन्! किसी की धर्म पर श्रद्धा है किन्तु वह धर्म का आचरण नहीं कर रहा है। ऐसे पुरुष को, जिसे धर्मश्रद्धा है, उसे धर्मश्रद्धा का क्या फल मिलता है?

''धम्म सद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ?''

(उत्तराध्ययन सूत्र २९/३)

यदि आपको उत्तर देना हो तो आप कह देंगे मोक्ष मिलेगा, पर पहले यह चिन्तन करिये कि उसने धर्म को जाना है या नहीं? यदि उसे धर्म का परिज्ञान नहीं है तो उसकी धर्मश्रद्धा कैसे बनेगी? धर्म क्या है? उसका स्वरूप उपस्थित करते हुए कहा गया है-

''धम्मो मंगल मुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।''

धर्म कोई मामूली चीज नहीं है। जैसे आप कपड़े की पोशाक का प्रयोग करते हैं, वैसे ही धर्म की रीतियों का प्रयोग करें तो वह धर्माचरण नहीं होगा। इसे एक उदाहरण से समझिये। लोग प्रतिवर्ष चातुर्मास का आग्रह करते हैं। साधु-साध्वी वर्ग के जितने शृंगाटक हैं, उनसे बढ़कर विनती करने वाले होते हैं। चातुर्मास भी होते हैं। इसके उपरान्त यदि हम जानकारी करना चाहें कि चातुर्मास में उपलब्धि क्या हुई, तो निराशा होती है कि जैसा संतोषप्रद परिणाम आना चाहिये था, वैसा आ नहीं पाता। कारण यह है कि हमारी दृष्टि ऊपर के कार्यों पर रहती है, उनके पीछे की भावनाओं पर नहीं। हम होड़ लगा लेते हैं कि अधिक से अधिक तपस्याएं हो जायें, अधिक से अधिक मासखमण हो जायं; पूर्व में यदि सौ अट्ठाइयां हुई थी तो प्रयत्न होगा कि इस बार दो सौ हो जायें। हजार तेले कराने का प्रयत्न होगा तो हजार तेले करा लेंगे, ताकि रिकार्ड बना सकें। प्रतिक्रमण ज्ञान-ध्यान की भी होड़ लगा लेंगे। मैं आपसे पूछता हूँ कि क्या अधिक से अधिक लोगों द्वारा सामायिक-प्रतिक्रमण, स्वाध्याय-थोकड़े आदि सीखने को संतोषकारक अवस्था माना जा सकता है? क्या इतनी ही उपलब्धि के आधर पर किसी चातुर्मास को पूर्णतया संतोषप्रद कहा जा सकता है? और क्या आप लोगों को इससे पूरा संतोष होता है? मेरे मतानुसार यह चातुर्मासों की पूर्णतया संतोषप्रद अवस्था नहीं है। मेरा आशय समझिये। यह मत समझना कि साधु-साध्वी ऐसी ऊपरी उपलब्धियां दिखाने के लिए अपना समय देते हैं। वे समाज को जागृत करने के लिए अपने समय व शक्ति का भोग देते हैं, पर हमें

संतोष होता है या नहीं, यह भी आपने कभी सोचा? हमारे संतोष की प्रकृति को भी आप समझें। जिससे धर्माराधना के क्षेत्र में होने वाली औपचारिकताओं के स्वरूप का आपको ज्ञान हो जाय। हमें संतोष तब होगा जब अपनी धर्माराधना की प्रकृति और स्वरूप को भी आप स्वयं समझें और उसका सम्यक् मूल्यांकन करें। आप मूल्यांकन करें कि आपने अपनी प्रवृत्तियों में परिवर्तन किया या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं कि वे ही घोड़े और वही मैदान! तब आप सोचें कि आपकी प्रवृत्तियों में, दिनचर्या में बदलाव आया है या नहीं? आपके मासखमण पर मास खमण या अट्ठाई पर अट्ठाई करने के बाद या बीच में अहंकार वैसा ही फुफकार रहा है या शान्त हुआ है। यदि हेकड़ी या अकड़पन में कोई अंतर नहीं आया है तो फिर तपस्या की सार्थकता क्या रही? तपस्या तो बहुत की, पर क्रोध नहीं मिटा, अहं नहीं मिटा, तो मासखमण क्या, निरन्तर मासखमण पर मासखमण करें तो भी कल्याण नहीं होना है। फिर आपने धर्म को क्या समझा? कभी आप समझ लें कि आपने तपस्या, ज्ञान-ध्यान, स्वाध्याय कर लिया तो धर्म कर लिया है तो ऐसी बात नहीं हैं। यदि उसके पीछे भी लोकेषणा के भाव जुड़े थे तो यह जीवन को पवित्र नहीं बना पायेगा। इसलिए पहले धर्म को समझने की आवश्यकता है क्योंकि-

धर्म-धर्म सब कोई कहै, धर्म न जानत कोय।
जात न जाने जीव की, धर्म किस विधि होय॥

जब जीव-अजीव हो नहीं जानेगा तो धर्म का स्वरूप कैसे समझेगा? किस रूप में धर्म की व्याख्या या आचरण कर पाएगा? भगवान् ने चार प्रकार की गति, पांच जाति व छः प्रकार की काया बताई है जिसमें सारे संसारी जीवों का समावेश हो जाता है। उन जीवों के प्रति हमारे मन में क्या भाव है? उसके स्वरूप और प्रकृति को भी समझें। हम अहिंसा को महत्त्व देते हैं, पर वास्तविकता यह है कि हमने कायरता पर अहिंसा का कवच धारण किया है। यदि कायरता पर आवरण डाल लें तो वह आवरण कल्याण नहीं कर सकता है, न ही हमारा परलोक सुधार सकता है। धर्म व अहिंसा कभी कायर होना नहीं सिखाते। यह बात अलग है कि हम अपनी कमजोरी ढकने के लिए उस आवरण को पसन्द कर लेते हैं।

एक महिला सुडौल शरीर वाली है, पर चेहरे की बनावट ठीक नहीं है। वह चाहती है कि उसका चेहरा सुन्दर दिखे इसलिए वह मेकअप करती है। जैसे अपनी कुरूपता को ढंकने के लिए वह भी ऊपर के आवरण को स्वीकार करती

है, वैसे ही अपनी कायरता को ढंकने के लिए हम अहिंसा का कवच धारण करते हैं। वास्तव में यह हमारा हीनताबोध है। हमें अपनी सहज अवस्था में रहना चाहिये, पर हम सहज अवस्था में कम जीते हैं, मुखौटा लगा कर, कृत्रिमता में ज्यादा जीते हैं। दूसरे लोग तो नाटक करते हैं तब तक ही मुखौटा लगाते हैं और नाटक के पात्र बन कर चलते हैं, पर हम २४ घंटे में जितने नाटक करते हैं उतने ही मुखौटे लगाते हैं। एक घंटे भी सहज अवस्था में नहीं रह पाते हैं। इसलिए हमारी आत्मा कायरता पर आवरण धारण करती है। पर कितना ही आवरण धारण कर लें, यथार्थ स्थिति यथार्थ ही रहती है।

भगवान महावीर के श्रावकों ने कभी यह विचार नहीं किया कि उनकी तपस्या चल रही है, तो रणभूमि में कैसे जाएं। उन्होंने जरूरत पड़ने पर रणभूमि में शस्त्र भी उठाये। यद्यपि युद्ध उनका लक्ष्य नहीं था, पर जब उन पर युद्ध थोपा गया तो वे पीछे नहीं हटे। किन्तु आज स्थिति यह है कि चींटी की रक्षा के लिए तो हम ओघा-पूंजणी रखते हैं किन्तु जहां पंचेन्द्रिय के वध की बात आती है तो ओघा-पूंजणी पता नहीं कहां चले जाते हैं? दुकान में बैठे हैं तो किसी गरीब की सारी जिन्दगी गलत प्रविष्टियों से हलाल तो नहीं कर देते? कसाई एक बार हलाल करता है पर हमारी कलम कितनी बार हलाल कर देती है यह भी सोचते हैं क्या? एक होता है हलाल और एक होता है झटका। आज तो ऐसे-ऐसे यंत्र ईजाद कर लिये गये जो एक घंटे में न जाने कितने पशुओं का काम तमाम कर देते हैं, पर क्या कभी हमारी रूह भी कंपित हुई?

आनन्द आदि के समय के श्रावकों का जीवन कभी सुना, कभी कल्पना की, कभी स्थितियों पर विचार किया? हमने शास्त्रों का पारायण ही नहीं किया, जरूरत ही नहीं समझी। जहां तब एक श्रावक के घर में ४०,०००, ६०,०००, ८०,००० पशु मिल जाते थे वहां आज सारी बिन्दियां हटा दें, फिर जितने अंक बचें उतने भी न मिलें। आप कहेंगे अंक हटा दीजिये। बिन्दियां रहने दीजिये आप बिल्कुल ठीक कहेंगे। यही है अधिकांश घरों के हालात। उनसे यदि पूछ लें कि तब वे दूध क्यों पीते हैं? संकल्प कर लें कि घर में जो दुधारू पशु नहीं रखेंगे वे दूध लायेंगे नहीं। दूध की आवश्यकता नहीं है। क्या दूध के बिना जीवन चल नहीं सकता? पर कितने मिलेंगे ऐसे? जिन पशुओं का हम दूध पीते हैं वे पशु यदि कत्लखानों में जा रहे हैं तो हम में अहिंसा का प्रतिष्ठान होगा क्या? क्या उनके प्रति करुणा के भाव बनेंगे, जिनका दूध हमने पीया है? पुराने समय

के ऐसे भी आख्यान सुने गये हैं कि यदि किसी का नमक खा लिया तो उसकी चोरी नहीं करते थे। तब कहावत थी- 'एक चुटकी नमक खा लिया है अतः नमकहरामी नहीं करेंगे। विचार करें, हमने एक जिन्दगी में कितने लीटर दूध पी लिया, पर कभी इन दूध देने वाले पशुओं के विषय में सोचा?' हमारी अवस्था पशु से बदतर तो नहीं हो गई है? गाय बछड़े को जन्म देती है तो उसके लिए तड़फती है, उसके इर्द-गिर्द घूमती है। पर आज की माताएं बालक को बाहर ही नहीं आने देतीं। गर्भ में रहते हुए भी शिशु किस प्रकार छटपटाते हैं, इसकी रील जब मुम्बई के एक डाक्टर के सामने आई तब गर्भ के भीतर हिंसा की उस रील का उस पर ऐसा गहरा प्रभाव पड़ा कि उसके बाद उसने गर्भपात करना बंद कर दिया। उनका दिल दहल उठा। ओफ! मैं क्या करता रहा हूं! एक हम जैनी कहलाने वाले हैं जो एक चींटी की भी रक्षा का प्रयत्न करते हैं किन्तु अपने ही कलेजे की कोर का कत्ले आम होने देते हैं। फिर कहां दया-करुणा रहेगी?

भगवान् महावीर ने कहा- जिसके चौके में मांस पकता है उसके यहां साधु को गोचरी नहीं जाना, पर जिसके घर में ऐसा कत्लखाना चले तो वहां साधु क्या करे? और ये स्थितियां मालूम भी नहीं हो पातीं। जब करुणा ही नहीं रही तो धर्म कहां रहेगा?

'दया धर्म का मूल है।' यह दया घटती जा रही है और यही प्रदूषण का कारण बनता है। अंदर का प्रदूषण बाहर फेंका जाता है और उससे वातावरण प्रदूषित हो जाता है। भगवान् ने कहा- वनस्पति की भी रक्षा करनी चाहिये। हम सोचें कि भगवान ने ये जो बातें कह दी हैं, वे बातें आज हमारे लिए कितनी महत्त्वपूर्ण हैं? जहां जंगल कटे, सारा वातावरण परिवर्तित हो गया, ऋतुओं की प्रकृति ही बदल गई। अब वर्षा समय पर नहीं होती, यह सारा क्यों हुआ? भगवान् ने कहा- पानी के जीवों की रक्षा करो, पर आप हैं जो अपने स्वार्थ के लिए वनस्पति की और पानी के जीवों की हिंसा करते हैं। आपको यदि हजारों लीटर पानी की पीने के लिए आवश्यकता है, सिंचाई के लिए आवश्यकता है तो वहां भगवान् ने कहा वह अर्थदण्ड है। पर एक लोटा पानी भी यदि निरर्थक डाला तो वह अनर्थदण्ड है। आज अनर्थदण्ड कितना हो रहा है? हमने पानी का सदुपयोग कितना किया और दुरुपयोग कितना किया, सोचा कभी? मैं अभी गणित नहीं लगा रहा हूं पर दो दिन पूर्व भंडारीजी से चर्चा चली तो मैंने कहा- समाज को इसका बोध दिया जाना चाहिये। मेरे कानों में बात आई कि आने

वाले समय में पानी के लिए युद्ध होंगे। पानी का युद्ध तो आज भी देखा होगा? जहां पानी की कमी है, वहां टैंकर पहुंचते हैं। कैसी विकट स्थितियां बन गई हैं, किन्तु हम चेतते नहीं।

हम नहीं जानते कि पानी की तंगी कैसी होती है। पर जहां तंगी है वहां एक-एक लोटा पानी बचाने का प्रयत्न किया जाता है। भगवान् महावीर ने जो पहले ही कह दिया था यदि उस शिक्षा को धारण करते तो यह नौबत नहीं आती। पर हमने समझा ही नहीं। उन शिक्षाओं को शास्त्रों में और शास्त्रों को लाइब्रेरियों में, आलमारियों में बंद कर दिया। पर पूछ लें पढ़े कितने, गुणे कितने? गुणे नहीं, जीवन में उतारा नहीं। वैद्यजी से दवा लाकर आलमारी में रख दी, बीमारी ठीक नहीं हुई तो शिकायत की वैद्यजी से कि आपने कहा था एक सप्ताह में बीमारी ठीक हो जायेगी पर मेरी हालत तो वैसी ही है। वैद्यजी ने पूछा- दवा का सेवन कितना किया था? तो उत्तर दिया- सेवन तो नहीं किया। मैंने तो दवा को आलमारी में रख दिया था। ऐसा करते हैं क्या? वहां तो ऐसा नहीं करते, क्योंकि शरीर को स्वस्थ करना चाहते हो। वहां तो हमारे शरीर में कमजोरी है तो डाक्टर कहेगा कि केप्सूल ले लो तो आप नहीं लेंगे क्या? यदि डाक्टर कहेगा दिन में तो दिन में लेने को तैयार और रात को कहे तो? यदि रात के सौगन्ध हैं तो उसे भी तोड़ देंगे। दवाई के प्रति कितना लगाव है! प्रभु महावीर ने हमें दवा दी, आज के डाक्टर की दवा का तो रिएक्शन भी हो सकता है, पर भगवान् महावीर की औषधि ऐसी है जिससे लाभ होगा और यदि लाभ नहीं हो तो नुकशान होने जैसी स्थिति कभी नहीं आयेगी। उस दवा का सेवन कीजिये। यदि नहीं करते हैं तो गलती आपकी है। जो बीमारी है, वह ठीक नहीं होगी।

घर में बर्तन धोने का काम नौकर करते हैं, पहले लोग राख से, बालू से और, मारवाड़ में रेत प्रचुर है, उससे मांज लेते थे तो बर्तन को धोने की भी आवश्यकता नहीं पड़ती थी। पानी कितना बच जाता था, पर आज रेत से मांजने की आवश्यकता ही नहीं। बहिनें पाउडर लगाकर, नल के नीचे धो लिया करती हैं, भले पानी लगातार बहता जा रहा हो। टब या बर्तन में धोते हैं तो एक बाल्टी में दो-तीन बार बर्तन धुल सकते हैं, पर नल खुला छोड़ दिया तो कोई मर्यादा नहीं, कितना ही पानी बह जाय। एक तो पानी का इतना वेस्टेज होता है, दूसरा, वाशिंग पाउडर के पानी से नाली में कितने-कितने जीवों की घात होती है। आप समझ तो रहे हैं पर कितने तैयार हैं कि बर्तन नल के नीचे नहीं

धोयेंगे? स्नान करने के लिए अलग से पानी लेकर बैठें तो एक बाल्टी में काम हो जाए और नल के नीचे बैठें तो? आज तो नल के नीचे से भी काम नहीं चलता। फव्वारे लगे हैं, बैठ गये पानी के कीड़े बन कर। ध्यान रखिये, देवलोक के देव भी जल-बावड़ियों में आसक्त होते हैं तो वहां से च्युत होकर अप्काय की योनि में चले जाते हैं। हम भी .पानी के कीड़े बन गये हैं, स्वीमिंग पूल में स्नान कर रहे हैं। अब आयु का बंध हो गया तो वहीं पानी के जीव के रूप में उत्पत्ति तो नहीं हो जावेगी। एक बार वहां चले गये तो कितना काल उन्हीं स्थावर कार्यों में बीत जायेगा, इसका पता है क्या? देवगति के देव भी जीवन हार जाते हैं। मनुष्य योनि के मनुष्य भी हारते रहे हैं, पर हमें यह सुन्दर अवसर मिला है, इसका सदुपयोग करें।

हमें भगवान् महावीर की औषधी प्राप्त् हुई है, चाहें तो भविष्य को सुन्दर बना सकते हैं। इसके लिए भविष्य की चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं। वर्तमान की नींवं सही भरें तो भविष्य की बिल्डिंग स्वतः ही सुदृढ़ होगी। वर्तमान को खराब कर दिया तो भविष्य तो निश्चित ही खराब होगा। इसलिए समय रहते चिन्तन करने की आवश्यकता है। तीर्थंकर देवों ने जो बातें कही हैं, हमने उन्हें समझा नहीं है, इसी कारण चारों ओर प्रदूषण देखना पड़ रहा है। वैज्ञानिक कहते हैं कि ओजोन छतरी में छेद हो गये हैं क्योंकि गैसें बहुत निकलती हैं। उत्पादन क्रिया के दौरान क्लोरोप्ला गैस निकलती है। एक सर्वे के अनुसार एक वर्ष में ३६२००० टन यह गैस निकलती है। उससे उसमें छिद्र होते हैं। उसके कारण सूर्य की पराबैंगनी किरणें जमीन पर आ रही हैं और मनुष्यों के जीवन के लिए खतरा पैदा कर रही हैं। आज इस स्थिति से वैज्ञानिक परेशान हैं क्योंकि उन्होंने जो आविष्कार किये हैं वे ही उनके लिए हानिकारक बन रहे हैं।

हमने विज्ञान को बहुत महत्त्व दिया, पर धर्म को छोड़ दिया। धर्म को महत्त्व देते तो वह विज्ञान घातक नहीं बनता। धर्म को छोड़ दिया तो वह सिर पर चढ़कर बोलने लगा है। ज्यों-ज्यों सुधार की कोशिश की, उतने ही चिन्ता में डूबते चले गये। यदि धर्म उसके साथ होता तो विज्ञान का उपयोग आवश्यकता की पूर्ति के लिए होता, न कि अभिलाषा की पूर्ति के लिए। यदि विज्ञान को जीवन निर्वाह का माध्यम बनाया होता तो यह स्थिति उत्पन्न ही नहीं होती। पर हम अनुकरणप्रिय लोग आवश्यकता और उपयुक्तत्ता की वात भूल

कर विदेशों से बराबरी करने में लग गये कि यह चीज वहां है तो भारत में भी होनी चाहिये। आज एक और चिन्ताजनक स्थिति पैदा हो गई है। आज के युवाओं का धर्म से लगाव नहीं रहा है। पहले हमारे दादाजी अंगुली पकड़कर हमें धर्मसभा में ले जाते थे, पर अब दादाजी कहते हैं तो पोते तैयार नहीं होते। इसके पीछे कई कारण हैं। पहला कारण है कि साधुओं से उनका परिचय नहीं होता। उन्हें झिझक होती है कि उन्हें नमस्कार मंत्र भी नहीं आता। वहां पूछेंगे तो वे क्या जवाब देंगे? प्रत्याख्यान के विषय में भी झिझक होती है कि प्रत्याख्यान करवा देंगे, इसलिए भी नहीं जाते।

दूसरा कारण यह है कि व्यक्ति की रुचि अर्थ-क्षेत्र में हो गई है। उसी में वह उन्नति करना चाहता है। मुझे सम्पत्ति मिलनी चाहिये, इसके लिए दिन-रात एक कर देते हैं।

एक अन्य कारण यह भी है कि अब व्यापार का रूप पहले जैसा नहीं रहा है। सबके अलग-अलग ऑफिस और दुकानें हैं। सबका कार्यक्षेत्र अलग-अलग है। पहले संयुक्त परिवार होते थे तो दो जनें कहीं चले भी जाते तो परिवार में से कभी कोई, कभी कोई संभाल लेता।

आज बच्चों के मन में जो प्रश्न उठते हैं, उनके आप जवाब दे नहीं पाते। टी.वी. भी एक कारण है। इसके कारण पढ़ाई के लिए उन्हें समय नहीं मिलता और टी.वी. पर इतने चैनल हैं कि एक टी.वी. से काम नहीं चलता। फिर सब की अपनी-अपनी पसन्द होती है, इसलिए जितने रूम उतने टी.वी. सैट। अब टी.वी. सैट तो बहुत हो गये पर आप बुरी तरह अपसैट हो रहे हैं। इसने समाज की व्यवस्था को तहस-नहस किया है।

जापान के लोग इस दृष्टि से बहुत जाग्रत् हैं। उन्होंने कहा कि इससे तो हमारी आने वाली पीढ़ी पंगु हो जायेगी। पुरुषार्थहीन हो जायेगी। जो ५-६ घंटे इसमें बर्बाद कर देगा वह जीवन में क्या प्राप्त कर पायेगा? उन्होंने कहा, हमारा जीवन पुरुषार्थी रहा है, अगर आने वाली पीढ़ी पुरुषार्थहीन हो जावेगी तो भीषण खतरे मंडराने लगेंगे। जापानी पुरुषार्थी बने रहें, इसके लिए उन्होंने एक रास्ता ढूंढ लिया। उन्होंने टी.वी. को इडियट बॉक्स की संज्ञा देते हुए टी.वी. फोड़ो आंदोलन चलाया। अपने घरों के टी.वी. सेट्स उन्होंने सड़कों पर फेंक दिये।

एक गरीब परिवार था। उनके एक लड़का था। वे उसकी शादी करना चाहते थे पर पास-पडौस वाले, जब कोई शादी का प्रस्ताव लेकर आता तो बता देते- क्या करेंगे वहां शादी करके, वहां रोजगार का कोई जुगाड़ नहीं है, अपनी बच्ची को वहां देकर क्यों उसकी जिन्दगी खराब करोगे। आने वाले व्यक्ति को वे उसके घर तक नहीं पहुंचने देते, बाहर से ही रवाना कर देते। होता है, ऐसा भी, वरना उन्हें क्या लेना-देना था? पर लाड़े की भुआ बने बिना उन्हें मजा नहीं आता था। संयोग से एक भूला-भटका व्यक्ति उनके घर में प्रवेश कर गया। उन्होंने देखा, ये अपनी लड़की की शादी करने आये हैं। हालांकि हालत ऐसी नहीं थी कि उनका सत्कार-सम्मान कर सकते, पर भारतीय संस्कृति में अतिथि देवो भव की मान्यता प्रचलित है। लड़का मेहमान के सामने गया और कहने लगा विराजिये! बात ऐसी है कि यह गांव ऐसा है, जहां आजकल अकाल पड़ गया है। चोरियां बहुत होती हैं। अपनी तलवार मुझे दे दीजिये ताकि सुरक्षित रहे। लड़के का दिमाग काम करने लगा। वह तलवार लेकर हलवाई के यहां गिरवी रख कर सामग्री लेकर आ गया। किसी तरह सामग्री जुटा ली। पर घर में मेहमान के लायक बर्तन नहीं थे। घर में तो टूटे-फूटे बर्तन से चला लेते थे, पर मेहमान के लिए तो अच्छे होने चाहिये थे। हमारा मुखौटा दिखने में तो अच्छा होना ही चाहिये। हमारे घर में पीतल के बर्तन हैं पर मेहमान के लिए तो स्टील की थाली चाहिये। पर लोहा भी आज महंगा है। अब तो कागज की प्लेट दी, खाइये और रवाना हो जाइये। वह लड़का पड़ौस में गया कहा कि मेहमान आये हैं, आपके बर्तन दे दीजिये। पड़ौसी समझ गये, आज मेहमान आये हैं इसलिए थाली ले गया है। मौका देखकर वे मेहमान से मिलने आ गये। घर वाले काम में लगे थे तो वे मेहमान को फूंक मारने लगे- "घर में कुछ नहीं है, आप जो तलवार लाये थे वह इन्होंने यह कह कर कि चोरी नहीं चली जाये, सुरक्षित रख दूं, गिरवी रख दी है। ये हाल हैं इनके। हमारी बात पर विश्वास न हो तो आप मंगवा कर देख लीजिये।" उन्होंने सोचा, देखें क्या मामला है? पूछा लड़के से- मेरी तलवार कहां है? तत्काल लाता हूं, कह कर वह अंदर गया और जो बर्तन पड़ौसी के लाया था, उन्हें ले गया, तलवार छुड़ा ली और बर्तन गिरवी रख दिये। तलवार लाकर मेहमान को पकड़ा दी। पड़ौसियों ने भी जानकारी कर ली और बता दिया कि हमारे बर्तन रख कर तलवार छुड़ा लाया है। लड़की वाले ने कहा- जो इतनी हेरा-फेरी करना जानता है वह कभी भूखा नहीं मर सकता। इसका

दिमाग कम्प्युटर की तरह हेरा-फेरी करना जानता है। जो इतनी हेरा-फेरी करना जानता है वह मेरी बेटी के लिए जुगाड़ कर लेगा, हमें इतना विश्वास है।

सोचें कि आज हम कैसी हेरा-फेरी करते हैं? आज हम इतने मशहूर बन गये हैं कि पहले तो अपनी कंपनी खोलते हैं, फैक्ट्री डालते हैं, फिर बैंक से लोन लेते हैं। साल-दो साल के बाद शेयर बाजार में उतर जाते हैं। शेयर बिके, पैसे निकाल लिये, फिर कहेंगे फैक्ट्री ठप्प। अब यह नुकशान दे रही है और हाथ खड़े कर देंगे। आज यह उलटी हेरा-फेरी हो रही है। केवल अपना घर भरने की नीति रह गई है। ऐसी हेरा-फेरी से पेट और पेटी की पूर्ति कर लेंगे, पर उससे जीवन का आनन्द या अपना मौलिक स्वरूप उजागर नहीं कर पायेंगे। हम देखें कि हम जीवन का, जीवन के साधनों का दुरुपयोग तो नहीं कर रहे हैं उन साधनों का? जो हमारे जीवन को बसर कराने वाले हैं, उन्हें बर्बाद तो नहीं कर रहे हैं? पानी, हवा, वनस्पति, जीवन के लिए प्राण हैं, वे नहीं रहे तो हम सुरक्षित नहीं रह सकते। उनके बिना आपकी आवश्यकताओं की पूर्ति कैसे हो सकती है? एक एक तत्त्व में कितनी क्षमता है, कितनी अच्छाई है, ध्यान है क्या आपको? वे उपकारी हैं। उपकारी के प्रति आपका कितना कृतज्ञ भाव है, इस पर विचार करें। पुराने समय में वनस्पति को सींचा जाता था। आज आप काटते हैं। हमारी संस्कृति में कितनी चेतना है, पर हमने सोच लिया है कि ये परम्पराएं सब ढकोसला हैं, अंध-विश्वास हैं। वह अंधविश्वास नहीं था। एक परम्परा है, पीपल के नीचे शिवलिंग रखा जाता है और ऊपर एक मटकी रहती है जिसमें से टप-टप पानी के टपकने की व्यवस्था रहती है। हमने सोचा, यह अंधविश्वास है, पर इसके पीछे विज्ञान है। गरमी में जहां पीने को पानी न मिले वहां पेड़ों को पानी कौन देगा? पर देव, गुरु, धर्म के नाम पर व्यक्ति लाखों रुपये खर्च करने को तैयार हो जाते हैं तो वहां शिवलिंग पर पानी छोड़ेंगे तो वह निरन्तर टपकता रहेगा। वह पानी वह कर कहां जाता है? पीपल की जड़ों में इस प्रकार सारा पानी सिंचन करता चलता है। एकदम तेज पानी आ गया तो वह कभी जड़ को उखाड़ भी सकता है, पर जो टप-टप करके पड़ता है वह पेड़ों को पुष्टता देता है। यदि ऐसे रहस्यों को आप जान जायं तो आपको पता लगेगा कि हमारे पूर्वजों ने कैसे फामूले अपनाये थे कि पेड़-पौधों को जीवन मिल जाय? यदि चिंतन करें तो वह पेड़-पौधों के लिए नहीं, हमारे लिए ही है। हम उनको

काटते हैं तो हमें शुद्ध ऑक्सीजन नहीं मिलती। पहले शुद्ध पानी मिलता था, पर आज कितने केमिकल्स मिले हुए होते हैं! हमने पानी के साथ खिलवाड़ किया, परिणाम यह हुआ कि आज पानी के लिए बहुत गहराई तक उतरना पड़ रहा है। आज बारूद डालकर हम गहरे में जा रहे हैं, पर पानी भी सतह छोड़ने लगा है। आने वाले समय में पानी की क्या स्थिति रहेगी, इसकी कोई जानकारी है? आज तो हमें मिनरल वाटर की बोतल चाहिये। मुखौटा सुन्दर चाहिये। यथार्थ में मुखौटा नहीं, जीवन सुन्दर होना चाहिये।

स्वामी विवेकानन्द विदेश गये थे तब उन्होंने गेरुए वस्त्र पहन रखे थे। एक महिला ने अपने पति से कहा- कैसा भारतीय है! वस्त्र पहनने तक का सलीका नहीं। स्वामी विवेकानन्द ने कहा- "भारत में पहचान कपड़ों से नहीं होती है। यहां आप देखते हैं कि कपड़े कैसे हैं, बाल कैसे हैं, केश-कटिंग कैसी है, पर हमारे यहां व्यक्ति की पहचान कपड़े-जूते से नहीं, उसके चरित्र से होती है।" आज बात अलग है। पहले हाथ से खाना, खाना चाहते थे। खाने के लिए आज चम्मच चाहिये। और अब हाथ से खाना खाएं तो गंवार कहलायेंगे।

जो मांसाहारी होते हैं उनके दांत कीलों की तरह नुकीले होते हैं। आज हम बच्चों को कांटे से रसगुल्ले मुंह में रखना सिखाते हैं, पर हम नहीं जानते कि हाथ से उठाकर मुंह में रखने का रहस्य क्या है? आज घुटनों में दर्द की शिकायत क्यों हैं? उसका एक कारण अंधानुकरण है। पहले हाथ से खाते, साग में अंगुलियां डूबती, उनमें तेल-घी की चिकनाई लगती जो नाखून के पास की संवेदनशील चमड़ी से घुटने तक पहुंचती थी और मांशपेशियों को शक्ति और गति प्रदान करती थी आप कहते हैं कि पुराना घी खाया हुआ है, पर आज तो फुलका तोड़ने में भी कठिनाई होती है। आज तो कहेंगे-

मुक्के से तो पापड़ तोडूं, कर से तोडूं सूत।
पेड़ों पर से कूद पडूं मैं, मेरा नाम रजपूत।।

देखा, मैंने पापड़ तोड़ लिया। आज रोटी तोड़ने में भी हाथ कंपित होते हैं। कितने पराधीन हैं हम? तो धर्म कैसे करेंगे? श्रम को भूलेंगे तो धर्म कैसे होगा? श्रम से ही धर्म का पालन कर सकते हैं। श्रावक हों या श्रमण, जो श्रम सही तरीके से करेगा वही धर्म का पालन कर पाएगा। श्रम न हो तो बीमार हो जायेंगे। बीमार क्या धर्म-पालन कर पाएगा? समय रहते चेत जाइए। २१वीं सदी

में किस रूप में प्रवेश पाना चाहते हैं? शताब्दियां बदली फिर भी आदत नहीं बदली तो कितनी ही शताब्दियां निकल जायें, आत्मा का कल्याण नहीं होगा। आज से नया संकल्प करिये, चिन्तन करिये। हमें अहंकार पर विजय प्राप्त करनी है। ऐसा न हो कि अहं हमारे माथे पर चढ़कर बोले। हमारे माथे पर अहं नहीं चढ़ेगा तो हमारे नेत्र लाल नहीं होंगे, ललाट पर कभी तीन सल नहीं पड़ेंगे। यदि तैयारी है तो चातुर्मास से हमारी जिन्दगी सफल हो जायेगी, नहीं तो तपस्या कर ली, पर अंतर का परिमार्जन नहीं किया तो वहीं के वहीं रह जाऐंगे। मन-मुटाव की भावनाएं दूर कीजिये। परस्पर सद्भाव विकसित कीजिये तो जीवन में संतोष और शांति की स्थितियां आएंगी। चातुर्मास की घड़ियों में जीवन का परिमार्जन कर उसे धर्म से जोड़ें। यदि कषाय पतले न पड़ें या उनका अभाव नहीं हुआ तो आनंद आ नहीं सकता।

पानी और वनस्पति हमारे लिए वरदानस्वरूप हैं। उनके प्रति कृतज्ञ भाव रखें। जितने भी जीव हैं, वे प्राण-युक्त हैं, उनके प्राणों की रक्षा का भी हमें ध्यान रखना है। यदि इस तथ्य को समझें तो धर्म को अपने-आप में उजागर कर पायेंगे। हमारे दुरुपयोग से अनेक जीवों की हिंसा होती है जबकि थोड़े-से सदुपयोग से, विवेकपूर्ण उपयोग से अनेक जीवों को जीवन मिल जाता है। अतः हम करुणाभाव जाग्रत् करने का प्रयत्न करें। हम धर्म के मर्म को समझें और जीवन को उन्नत बनाने का प्रयत्न करें तभी जीवन को मंगलमय बना पायेंगे। जीवन के साधनों का दुरुपयोग न करें क्योंकि उससे बहुतों का जीवन विपत्ति में पड़ता है। बहुतों को वे साधन उपलब्ध हों तो बहुतों को अभयदान देने की स्थितियां बना सकते हैं।

जीवन एकान्त में जीया नहीं जाता, जीवन के अस्तित्व का आधार है परस्पर निर्भरता। इस तथ्य को हम समझें और यह भी समझें कि सभी वनस्पतियों और जीवों की बराबर की उपयोगिता है, चाहे वे बुरे और हिंसक या सरल और शान्त प्रकृति के हों। ये दोनों मिलकर प्रकृति में संतुलन स्थापित करते हैं। हम समता-समाज की आवश्यकता और उसके निर्माण की बात करते हैं तो समझ लें कि प्रकृति में कुछ भी अनावश्यक नहीं है। हमारा दृष्टिकोण, आवश्यकता या उपयोगिता की धारणा ही प्राकृतिक वस्तुओं को विभिन्न वर्गों में बांट देती है। दया, करुणा और सहिष्णुता की इसीलिये महिमा है क्योंकि ये गुण

हमें एक-दूसरे को समानता और बराबरी के स्तर पर स्वीकार करने की तथा उनके साथ सहअस्तित्व बनाये रखने की दृष्टि देते हैं। सर्वभूतों के हित की बात जब हम कहते हैं तो उन सर्वभूतों में हम भी सम्मिलित होते हैं। अपने हित के साथ सभी का हित देखें, यही धर्म के आचरण का मार्ग है। धर्म के संबंध में भी कहा गया है-

धम्मो ताणं, धम्मो सरणं, धम्मो गइपइट्ठा य।
धम्मेण सुचरिएण य गम्मइ अजरामरं ठाणं।।

ऐसे धर्म की आराधना करने से अजर-अमर पद की प्राप्ति होती है, इसीलिए धर्मश्रद्धा की महिमा है।

❑❑

परमात्म-दर्शन का लाभ कैसे उठाया जा सकता है? उत्तराध्ययन सूत्र में पृच्छा की गई-

'धम्मसद्धाए णं भंते। जीवे किं जणयइ?'

(उत्तराध्ययन २९/३)

भगवन्! धर्मश्रद्धा से जीव को किस फल की प्राप्ति होती है? यदि मैं अपने शब्दों में उत्तर दूं तो वह यह होगा कि धर्मश्रद्धा से व्यक्ति का उन्माद दूर हो जाता है। शास्त्रों में यह नहीं कहा गया है कि उन्माद दूर हो जाता है, शास्त्रकार तो कहते हैं-

सायोसोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जई।

शास्त्र तो साता और सुख में रचे-पचे की बात करते हैं। ये साता-सुख भी एक प्रकार का उन्माद है। यदि इसे पचा पायें तो यह उन्माद देने वाला नहीं बनता है। जैसे थका हुआ व्यक्ति छाया मिल जाये तो आराम से सोता है और फिर यदि नरम-नरम आसन मिल जायें तो झोंक में चला जाता है। आसन के विना तो फिर भी बैठा रह सकता है किन्तु कोमल बिछौना मिल जाये तो 'ऊंघते को बिछौना' वाली उक्ति चरितार्थ हो जाती है अर्थात् व्यक्ति नींद में ढल जाता है। वही अवस्था बनती है यदि व्यक्ति साता और सुख में डूबा है, रंगा है, भीगा है। तव उसे पता ही नहीं चलता कि दिन में, रात में क्या हो रहा है। पड़ौस में क्या हो रहा है, इससे भी वह बेखबर रहता है। वर्तमान में यही स्थिति चरितार्थ हो रही है। आज व्यक्ति अपने बंगले तक ही सीमित है। बंगले तक भी नहीं, यदि बंगले का ही एक हिस्सा किराये वाले को दिया हुआ है तो उसे पता नहीं चलता कि उस हिस्से में क्या हो रहा है। अधिक सुख मिले तो व्यक्ति अपने स्वयं के परिवेश से भी बेखबर हो जाता है। उसे यह भी पता नहीं रहता कि उसके बच्चे किधर जा रहे हैं। उन नन्हीं कोपलों का पालन-पोषण-पल्लवन कैसा हो रहा है? ऐसी स्थिति में बहुत-कम व्यक्ति बच्चों का खयाल रख पाते हैं। इतना ही नहीं, बहुत-से व्यक्ति ऐसा व्यस्त मशीनी जीवन जी रहे होते हैं कि जव वे घर आते हैं तो बच्चे सो चुके होते हैं और सुवह जव वे उठते हैं तव तक वच्चे स्कूल चले जा चुके होते हैं। वे अपने वच्चों का दिन में मुंह भी नहीं देख पाते। सोचिये कि हम किस दिशा में जा रहे हैं, कैसी हवा चल रही है? व्यक्ति कितना पाखण्डी और दम्भी हो गया है कि चाहे सुख-साता के साधन नहीं हों, पर शान-शौकत वड़े-वड़े व्यक्तियों के समान दिखाता है। खाने

के लिए चने भी नहीं हों, पर ठसक कायम है। बंगाली लोग शाम को हवाखोरी के लिए भी जायेंगे तो अरंडी का कुर्ता और ब्रासलेट धोती पहने होंगे। उस समय का रूप देखिये और घर में रहे तब का रूप देखिये तो कोई पहचान न सके। उनकी पहचान हो या न हो, पर हमें कौन पहचान रहा है? जिस समय धर्मक्षेत्र में आते हैं तब का व्यवहार, और जब घर में जाते हैं तब का व्यवहार, दुकान में कैसा रूप और फैक्ट्री में कैसा रूप? सब अलग। दिन-भर में जो इतने रूप परिवर्तित होते हैं तो क्या है इसका कारण? वस्तुतः हमारे जीवन में सरलता नहीं रही है। हमारे पास सुख-साता के साधन नहीं हैं, यह बात नहीं है। जो हैं उनसे संतुष्टि नहीं हैं और अधिक प्राप्त करने की लालसा बनी रहती है उसी के कारण दिन-भर उन्हें जुटाने की प्रवृत्ति बनी रहती है। और कदाचित् ये इच्छित वस्तुएं प्राप्त भी हो जाएं, पर दौड़ रुक नहीं पाती। तन से थक भी जाएं पर मन थकता ही नहीं। वह तो आगे से आगे इच्छा पैदा करता रहता है। उसे तो वही शान-शौकत चाहिये। इसलिए शास्त्रकारों का कहना है कि यह भी एक प्रकार का उन्माद है। उसमें पड़े रहें तो सही तत्त्व धर्म का जान नहीं पायेंगे। इस स्थिति में तत्त्व के रूप में धर्म को गहराई से समझना कठिन है। उसका अर्थ प्राप्त कर सकते हैं पर अंतर-रहस्य प्राप्त नहीं कर सकते। तब धर्मश्रद्धा का फल क्या है? उत्तर है कि जो साता-सुख में गहरा डूबा हुआ है उसकी उससे विरक्ति हो जाती है।

सुबाहुकुमार के घर में क्या संपत्ति की कमी थी? पत्नियों की कमी थी? भोग-सामग्री या भौतिक सुख की कमी थी? और शालिभद्र को क्या कमी थी? हम जानते हैं कि उन्हें कोई कमी नहीं थी। यहां तक कहा जाता हैं कि वे सुख में इतने डूबे थे कि सूर्य उदय किधर होता है यह भी उन्हें पता नहीं था। कैसा जीवन रहा होगा उनका! साता-सुख में कितने निमग्न थे! किन्तु एक चिनगारी ने उनका जीवन बदल दिया। एक चिनगारी पूरी घास की गंजी (ढेर) को समाप्त करने के लिए पर्याप्त होती है। जैसे एक चिनगारी से घास की गंजी समाप्त हो जाती है वैसे ही सत्संग की एक चिनगारी हजारों अपवित्र विचारों को समाप्त कर देती है। इसी प्रकार कषाय की एक चिनगारी सारे परिवार को झुलसा देती है। चिनगारी के कई भेद बन सकते हैं, यथा एक आग की चिनगारी है, दूसरी वैराग्य की और तीसरी, जिसे राग की कह दो या कषाय की, वह राग की चिनगारी है। आग की चिनगारी घास को समाप्त करती है, वैराग्य की चिनगारी

विषय और कषाय को नष्ट करती है, पर राग की, क्लेश की चिनगारी केवल हमारे जीवन या परिवार को ही भस्मीभूत नहीं करती, बल्कि उसकी चपेट में जो भी आ जाते हैं उन सबको भस्म कर देती है।

एक व्यंग्य की चिनगारी फूटी थी द्रोपदी के मुंह से। क्या कहा था उसने? "अंधे के पुत्र अंधे होते हैं।" क्या परिणाम निकला था उसका? महाभारत का युद्ध हुआ था। जब रामायण और महाभारत टी.वी. चैनल पर पहली बार आये थे तब लोग कहते थे- महाराज! व्याख्यान बाद में दोपहर में दे देना, अभी तो टी.वी. पर महाभारत आ रहा है। क्या धूम मची थी! बाजार शून्य, गाड़ी बंद, दुकानों पर भीड़ खत्म! रामायण-महाभारत को देखकर हम कितने खुश होते हैं, पर अपने भीतर के रामायण-महाभारत को देखें तो? कभी हो सकता है कि हम वहां देखें कि महाभारत में किसने कैसी तकलीफ उठाई, वैसी हम भी उठा लें। महाभारत क्या इसलिए देखते हैं कि पता चले कि दुर्योध न कैसे पांडवों की सम्पत्ति हरण करने की तैयारी करता है और वह कौनसी तकनीक अपनाता है? वैसी ही तकनीक सीखने तो हम नहीं जा रहे हैं? यदि यह ही सीखना है तो कल्याण नहीं होना है। वह तो अनीति की और नई तरकीबों को जोड़ने का प्रयत्न हो जायेगा। ज्ञानीजन कहते हैं- जैसे आग की चिनगारी, घास की गंजी को नष्ट करती है वैसे ही जीवन में धर्मश्रद्धा की चिनगारी लगा लो तो वह जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन कर देगी। तब विषयों में प्राप्त सुख से अरुचि हो जाएगी। धर्म क्या है, धर्मश्रद्धा क्या है? एक वेश्या अनेक को संतुष्ट करती है, वह भी कहती है यह मेरा धर्म है। एक पिता पुत्र को चांटे जड़ देता है या एक सेठ मुनीम पर आर्डर चलाता है तो वह भी कहता है कि यह मेरा धर्म है। बहुत-से व्यक्ति जो अपने भीतर इस तरह के विश्वास पाल लेते हैं, वे यथार्थ को पहचान नहीं पाते। धर्म के बारे में लोगों की अलग अलग दृष्टि है। कोई कर्तव्यपालन को, तो कोई नैतिक दायित्वनिर्वाह को, तो कोई सेवा को धर्म मानते हैं।

शास्त्रकारों ने अहिंसा-संयम-तप को धर्म कहा है। पर यह अहिंसा क्या है? आज हम अहिंसा की परिभाषा करने में डरते हैं कि कहीं पकड़ में न आ जाएं! आज तक परिभाषा रही है कि किसी जीव को नहीं मारना, मरते हुए प्राणी की रक्षा करना अहिंसा है। तो क्या यदि कोई जीव न रहे तो अहिंसा हो ही नहीं सकती? कोई जीव हमारे निकट रहेगा तो ही अहिंसा होगी। अहिंसा आत्मनिष्ठ है या परनिष्ठ? आज तक परनिष्ठ परिभाषा होती रही है। पर

बारीकी में पहुंचिये कि अहिंसा का रूप क्या हो सकता है? बारीकी से तात्पर्य कि यदि कोई दूसरा जीव नहीं है तो आप अहिंसा में उपस्थित कैसे हो सकते हैं? तब क्या अहिंसा का अभाव हो जाएगा? नहीं। अहिंसा का अभाव तो नहीं होगा। तब फिर अहिंसा कहां रहेगी? इसी अनुप्रेक्षा में हम जान पाएंगे कि अहिंसा का सद्भाव आत्मनिष्ठ है। इसलिए हमारे अस्तित्व में अहिंसा का अस्तित्व बना रहेगा। अन्य प्राणी भी जब आत्मवत् दृष्टिगत होने लगते हैं तो वही अहिंसा अन्य प्राणियों की रक्षा के लिए प्रवृत्त हो जाती है। अहिंसा में उपस्थित होने का या प्रवेश पाने का साधन या माध्यम क्या है? जैसे मकान में प्रवेश करने के पहले द्वार होता है। वैसे ही धर्म में प्रवेश के लिए सम्यक्त्व द्वार है। मकान में प्रवेश द्वार होता है वैसे ही अहिंसा में प्रवेश का द्वार कौन सा है? किस द्वार से प्रवेश करना चाहते हैं यह आपके सोचने का विषय है, जल्दी नहीं है, सोचियेगा?

भगवान् महावीर की आत्मा ने अहिंसा में प्रवेश किया था। फिर वही बात आ गई। अभी इसे मैं चिन्तन के लिए छोड़ देता हूं। अगर ढूंढिये कहलाते हो तो ढूंढो। ढूंढोगे नहीं तो ढूंढ़िये कैसे? अहिंसा का द्वार कहां है? हमने द्वार में प्रवेश पाया है या बाहर ही खड़े हैं? भगवान् महावीर की आत्मा ने इसमें प्रवेश का प्रयत्न किया किन्तु कर्मों के बादल भी बहुत बड़े किले का रूप ले लेते हैं, पता ही नहीं पड़ता। हमें दो दिन पूर्व गौतम मुनिजी ने बताया कि आचार्यश्री श्रीलालजी म.सा. के परिवार की टोंक में इतनी बड़ी हवेली है कि एक मार्ग से प्रवेश करें, फिर वापिस आयें तों पता ही नहीं चला कि कौन-सा मार्ग द्वार की ओर जायेगा। वैसे ही अहिंसा की पोल में प्रवेश करके प्रविष्ट हो गये तो एक दृष्टि से तो प्रवेश हो गया, पर निश्चय नय में पहुंचे क्या? निश्चय नय की अपेक्षा से जिस समय अहिंसा में प्रवेश कर लिया, अहिंसा में उपलब्ध हो गए, वही निश्चय में प्रवेश है। जरा इसे स्पष्ट समझ लें। मकान, मकान का आंगन और मकान का द्वार, एक अपेक्षा से तीनों मकान की संज्ञा में स्वीकार्य हैं। किन्तु यदि भेद-दृष्टि से विचार किया जाय तो तीनों भिन्न हैं। मकान व द्वार एक ही होता तो बीच में षष्ठी विभक्ति का प्रयोग नहीं होता। जैसे मैं और मेरा, दोनों का स्वतंत्र अस्तित्व है। वैसे ही मकान, मकान का आंगन व द्वार, तीनों स्वतंत्र हैं। जैसे ये तीनों भिन्न हैं उसी तरह अहिंसा, अहिंसा का आंगन और अहिंसा का द्वार भिन्न हैं। अहिंसा का आंगन संयम है और अहिंसा का प्रवेश-द्वार तप है।

इन तीनों की युति धर्म है। इसे यों समझ सकते हैं कि विना तप के संयम नहीं, और संयम से रहित अहिंसा धर्म की कोटि में नहीं आ सकती। तप है तो संयम है और संयम से युक्त अहिंसा तप है। इन तीनों की युति धर्म है। हमें धर्मश्रद्धा को उपलव्ध होना है तो निश्चित कीजिये कि धर्म, जिसमें अहिंसा, संयम व तप-रूप कहा गया है, उसमें हमने प्रवेश पाया है या नहीं? कहीं ऐसा तो नहीं है कि हम सड़क पर ही खड़े हुए हैं। फुटपाथ पर खड़े रहना या मकान में रहना, शीतल छाया के नीचे या खुले आसमान के नीचे खड़ा रहना, अलग-अलग बातें हैं। हम चिन्तन-मनन करें कि हमारी स्थिति क्या है, तभी धर्मश्रद्धा का पता लगेगा।

❑❑

संत-जीवन की पूंजी

बात को किस रूप में प्रारंभ किया जाय? खुशी के उद्गार से या खेद के उद्गार से? आप विचार करेंगे, यह कैसी बात कि बात को खुशी के उद्गार से प्रारंभ किया जाय या खेद के उद्गार से प्रारंभ किया जाय? खुशी इस बात की हो सकती है कि आज एक आचार्य की हम जन्म-जयंती मना रहे हैं और वह भी सौ वर्षों पर। और खेद की बात यह कि जैसे मूर्ति के सामने पांच पैसे का प्रसाद चढ़ाकर मूर्ति को खुश करना चाहते हैं, वही तौर-तरीका यहां अपनाया गया है। आपने श्रद्धांजलि अर्पित कर दी और सोच लिया कि हम कृतकृत्य हो गए। जयंती को मनाया जा रहा है सामायिक दिवस के रूप में, परन्तु आप जिस महापुरुष की जन्म-जयंती मना रहे हैं, उससे संबंध के बाद भी यहां जगह खाली पड़ी है। होना तो यह चाहिये था कि यहां की जगह सामायिक करने वालों से भर जाती। इस विशिष्ट अवसर पर भी वही दो सामायिक कर ली, जो रोज करते थे। सोचिये, यह बनियागिरी तो नहीं हुई? आचार्यश्री की जन्म-जयंती भी मना ली और सामायिक भी हो गई।

बंधुओ! ये बनियागिरी कब तक चलेगी? मंत्रीजी कह गये- कुल्ले करके नीचे नहीं उतारें, नहीं तो उसका नशा आयेगा। पर मैं कहता हूं कि यह शराब जब तक अंदर उतरेगी नहीं, हलक में इसे जब तक नहीं उतारोगे, कल्याण नहीं होगा। आज तक यही होता रहा है कि बाहर की शराब पीते हैं, पर धर्मस्थान में आकर निर्वेद की और धर्मश्रद्धा की शराब नहीं पी पाए हैं। यह गले तक आती तो है पर टॉनसिल इतने बढ़े हुए हैं कि नीचे उतार नहीं पाते और वहीं से कुल्ला करके थूकने की स्थिति बन जाती है। इतने बड़े आचार्य की जन्म-शताब्दी का प्रसंग और ऐसा एकदम ठंडा-ठंडा माहौल! इसी स्थान पर

यदि अपने में से ही किसी की सौवीं जन्म-जयंती या शादी की २५वीं सालगिरह मना रहे होते तो कितनी शान-शौकत से मनाते, पर धर्म के मामले में यह स्थिति! इसलिए पूछा था कि खुशी के उद्‌गार प्रकट करूं या गम के?

हम महापुरुषों को मूर्ति के रूप में मान लेते हैं। सभा कर ली, भाषण दे दिया और फर्ज अदा कर दिया। हमारे यहां स्पष्ट कहा गया है कि औपचारिकता कभी खूशवू दे नहीं सकती। कागज के फूलों में कभी खुशवू आ नहीं सकती। हम यथार्थ का धरातल ढूंढें। हम समुद्र की ऊपर की लहरें देखने में लगे रहते हैं। आपने समुद्र की ऊपर की अवस्था को देखा होगा। समुद्र को गंभीर कहा गया है, जिसकी उपमा तीर्थंकरों को भी दी गई है- 'सागरवर गंभीरा'। समुद्र गहरा होता है, गंभीर होता है, किन्तु यदि हम कह दें कि समुद्र में तो केवल तूफानी हवाएं होती हैं, ऊँची-ऊँची लहरें होती हैं, या कह दें कि वहां तो केवल अथाह पानी होता है, तो समझ लीजिये कि हम केवल औपचारिकता में जी रहे हैं। अपेक्षित यह है कि हम यथार्थ में जीयें। पर इसके लिए आवश्यक है कि थोड़ा मोह-ममत्व का त्याग किया जाय। वर्षों तक जिनकी सेवा ली, उपदेश सुना, उनके लिए क्या दया-पौषध नहीं कर सकते? घर में विवाह-शादी हो तो कितना आवश्यक कार्य भी हो, उसे बन्द कर देते हैं, पर यहां सामायिक दिवस है और टांय-टांय-फिस्! अभी भी कुछ नहीं विगड़ा है। यदि उनके प्रति श्रद्धा-समर्पणा है तो अभी भी आज के दिवस को दया-दिवस के रूप में वदल सकते हैं। मंत्रीजी कह गये कि हमें मनाना है, पर मुखमंगली वात मुझसे कम कही जाती है। किसको कहे! महापुरुषों का इतिहास वहुत उज्ज्वल होता है। वह स्वर्णाक्षरों में अंकित करने योग्य होता है। पर हम उसकी महिमा से परिचित नहीं होते इसलिए यदि स्वर्णाक्षर अंकित इतिहास मिल जाय तो हम उसे छापने को तो तैयार हो जायेंगे, पर यदि नया इतिहास लिखना है, सोने की स्याही से, तो हम तैयार नहीं होते हैं। हालांकि आनन्दऋषिजी म.सा. के दर्शनों का सौभाग्य मुझे नहीं मिला, पर वैचारिक दर्शनों का सौभाग्य अवश्य मिला है। मैंने उनके दर्शन किये हैं, आचार्यदेव के साहित्य में रहे उनके गुणों के माध्यम से।

सं. २००९ में सादड़ी-सम्मेलन हुआ था। आप जानते हैं कि राजस्थान

की भूमि साधु-साध्वियों से पटी पड़ी है। तब एक तरह से बाढ़-सी आ गई साधु-साध्वियों की। साधु-साध्वियों का सैलाब-सा उमड़ा पड़ा था राजस्थान की ओर। अत्यंत उत्साहपूर्ण वातावरण में वह सम्मेलन सम्पन्न हुआ था। सं. २०१० में सोजत में सम्मेलन हुआ और जोधपुर में ६ बड़े महारथियों का चातुर्मास हुआ। तब बड़ा जोश उमड़ा था और एक भावना सामने आई कि यह कार्य करना है। श्रमण संघ के उपाचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. थे। संघ-संचालन की पूरी जिम्मेवारी उन पर थी। जब उनसे पूछा गया कि आगे का सम्मेलन कहां किया जाय, तो उन्होंने कहा- मेरी उपस्थिति में तो सम्मेलन सादड़ी और सोजत में कर लिये गये है, और जोधपुर में चातुर्मास हो गया है तो मैं चाहता हूँ कि आने वाला अगला सम्मेलन आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. के सान्निध्य में हो। वे आचार्य हैं अतः अगला सम्मेलन उनकी सन्निधि में सम्पन्न होना उपयुक्त होगा। सुननेवालों ने दांतों तले अंगुली दबा ली- अपनी महानता के अनुरूप कितनी महिमामयी बात कही है, उपाचार्यश्रीजी ने!! बात आगे बढ़ी। लुधियाना से संपर्क किया गया। लुधियाना संघ ने अपनी स्वीकृति दे दी। चंपालालजी बांठिया अध्यक्ष थे कॉन्फ्रेन्स के, वे कुचेरा के आस-पास उपाचार्य श्री की सेवा में पहुंचे और बातचीत के दौरान बोले- उपाचार्यश्री इस बार तो आपके चरणरज से पंजाब की भूमि पवित्र होने वाली है। उपाचार्यश्री ने बताया कि १२ मील का विहार ६ दिनों में हो पाया है। इसलिए पंजाब पहुंचना संभव नहीं लगता। मेरे घुटने की हालत लंबा विहार करने की नहीं है। मैं पहुंच पाऊं या नहीं, पर मेरी शुभकामना सदा साथ रहेगी। चंपालालजी ने बात सुनी तो मन में डबका पड़ गया। उन्होंने कॉन्फ्रेन्स के सदस्यों के बीच बात रखी कि उपाचार्यश्री का पधारना असंभव है।

उस समय प्रधानमंत्री पद पर श्री आनंदऋषिजी म.सा. थे। उन्हें घोषणा का अधिकार था कि सम्मेलन कहां हो। उन्हें समाचार मिले तो उन्होंने समाचार लिखाये कि आचार्यश्री आत्मारामजी म.सा. व उपाचार्यश्री दोनों का सान्निध्य मिले, यह सोने में सुहागे की बात है, पर उपाचार्यश्री की उपस्थिति अनिवार्य है, वे पधारें। पत्र में यहां तक लिखा दिया कि वे यदि नहीं पधारेंगे तो फिर मेरे तो आने का सवाल ही नहीं रहता। देखिये, कितना अपनापन था वहां! कोई

भेदभाव नहीं था। ऐसा संवंध कि वे पधारें तो ही मैं सम्मेलन में आऊँगा, नहीं तो मैं नहीं आ सकता। यह स्थिति देख उपाचार्यश्री ने कहा- मेरी मनाही नहीं है, पर शरीर सामने है और लुधियाना नजदीक नहीं है। अंततोगत्वा तय यह रहा कि उपाचार्यश्री जहां पहुंच सके, सम्मेलन वहीं पर हो उनकी उपस्थिति अनिवार्य है। लोग पूछने लगे- उपाचार्यश्री! अब सम्मेलन कहां रखें? उन्होंने कहा- मैंने अपनी तरफ से लुधियाना का कह दिया, मैं बदलने की स्थिति में नहीं हूं। तव पूछा गया- आप कहां तक पधार सकते हैं? हम भी उपाय ढूंढते हैं। जहां तक आप पधार सकते हैं, वहीं सम्मेलन होगा। ऐसी स्थिति में सम्मेलन भीनासर में रखा गया। घोषणा प्रधानमंत्री श्री आनंदऋषिजी म.सा. ने की। संत वहां पहुंचे। ऐसे महापुरुष अंगुलियों पर गिनने जितने होते हैं समाज में। समाज के कायापलट में उनका वहुत वड़ा योगदान होता है।

उसके वाद पंडितश्री मधुकरमुनिजी म.सा. को युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। जोधपुर में एक ओर तो जहां यह ऐतिहासिक प्रोग्राम हुआ, वहीं उन्हें युवाचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया गया। इधर श्री आनंदऋषिजी म.सा. का संदेश पहुंचता है। वह संदेश अखवारों में भी आया था। वह कोई गोपनीय संदेश नहीं था। उन्होंने जो अनुभव किया व उनके साथ जो वीती थी, उन्होंने उसे शाब्दिक रूप में प्रस्तुत किया। "उपाचार्यश्री गणेशलालजी म. सा. ने एक शिक्षा, एक दीक्षा की वात कही थी। उस समय लोगों ने समझा नहीं, पर आज भी उसकी उतनी ही आवश्यकता है। मैं चाहूंगा कि यह व्यवस्था पूरे श्रमण संघ में लागू हो।"

आचार्यश्री ने कहा- मेरी उपस्थिति में जो विधान वना है, मैं अपने जीवन में उसे अमली रूप देना चाहता हूं। कारण है कि हम चाहते हैं कि समाज संगठित वने। पर समाज विचार नहीं कर पाया। यदि आपके समाज की जाजम, उसका धरातल समतल और मजवूत नहीं है तो विसंगतियां समाप्त नहीं होंगी। यदि अपने-अपने संप्रदाय की खींचतान नहीं होती, तो उस समय व्यवस्था का रूप कुछ और होता, पर भावी को जो मंजूर होता है वही होता है। उपाय करने वाले करते हैं, फिर भी सफल न हो तो समझना चाहिये कि भावी को जो मंजूर है, वही होता है।

श्री आनंदऋषिजी म.सा. का चिन्तन सोचने व समझने लायक था, पर वैसा नहीं हो पाया और आज तक वह लेख में सीमित है।

आचार्यश्री गणेशलालजी म.सा. ने जब युवाचार्य पद पर श्री नानालालजी म.सा. को प्रतिष्ठित किया तब जैसे बच्चे को घूंटी पिलाते हैं, वैसे आचार्यश्री ने कहा कि मेरे सान्निध्य में जो श्रमण संघ की धारा बही है, जब भी एकता की स्थिति बने, उसमें मिल जाएँ। उसमें पीछे रहने की आवश्यकता नहीं है। आज तुम भले ही युवाचार्य पद पर हो, पर जिस दिन भी वैसी स्थिति बने, तुम्हें तैयार रहना है। और आज भी आचार्यश्री का सन्देश है कि सादड़ी-सम्मेलन में जो रूप बना, वह किसी व्यक्ति या पार्टी का नहीं था। और मूर्धन्य मुनिराजों ने अधिकांश प्रस्ताव सर्वानुमति से, पारित किये। कुछेक प्रस्ताव बहुमत से पारित हुए, पर बहुमत भी ७५ प्रतिशत था। ऐसा शायद ही कोई प्रस्ताव पारित हुआ हो जो ७५ प्रतिशत से कम मतों से पारित हुआ हो। वैसी भूमिका जिस दिन भी स्थानकवासी समाज में जुड़ती हो, तो आचार्यदेवों का निर्देश है कि उस दिन अलग रहने की आवश्यकता नहीं, न आचार्य पद की कोई आवश्यकता है। यह पद केवल व्यवस्था से जुड़ा हुआ है जबकि मुनि पद से बढ़कर किसी पद की गरिमा नहीं हो सकती।

बंधुओ! सोचिये- हम भीतर का कल्याण कैसे करें? यह नहीं कि गणि, गणावच्छेदक, आचार्य, उपाध्याय पद मिलने पर ही आत्मकल्याण होगा। वर्तमान युग में आचार्य के अतिरिक्त अन्य पदों की अपेक्षा नहीं है, मुनि-भाव ही पर्याप्त है। यदि अपने मुनित्व को ही अक्षुण्ण रख लिया तो उससे ही आत्मकल्याण संभव है। सेना के लिए सेनापति की आवश्यकता होती है। आचार्य सेनापति के रूप में है और हम मुनि सेना हैं, ऐसा सोच बन जाए तो कहीं भी, किसी भी प्रकार की उलझन पैदा नहीं होगी। नहीं तो अमुक को यह पद दिया जाय, तो अमुक के लिए यह पद होना चाहिये जैसी पदों की लिप्सा में ही उलझ कर रह जाएंगे और स्वार्थ में पड़कर श्रमण संस्कृति के पानी को स्वच्छ नहीं रख पायेंगे। यदि सच्चे धर्म पर चलने का संकल्प कर उसका पालन करेंगे तो ही जयंती मनाना सार्थक होगा। महापुरुषों को केवल शब्दों का अर्घ्य अर्पित कर कामना करें कि देवता प्रसन्न हो जाएंगे, तो यह होना नहीं है। देव प्रसन्न होते हैं और

आते हैं, किन्तु ऊपरी-ऊपरी बातों से नहीं। श्रीकृष्ण वासुदेव की तरह तेलापूर्वक एकाकारता बने, तो देव को भी आना पड़ जाय। हम साधना के क्षेत्र में वैसा ही पुरुषार्थ करें। यदि हम महापुरुषों के चरित्र का अनुसरण करेंगे तो जीवन में आमूल-चूल परिवर्तन होगा और हम संस्कृति की सुरक्षा कर पाएंगे। इसलिए महापुरुषों के जीवन की रोशनी से अपने जीवन को भी रोशन करें।

आज एक बहुत अनुचित प्रवृत्ति चल पड़ी है- गुरुओं की शानदार समाधियां बनवाने की। गुरु की समाधि के नाम पर श्रद्धालुओं की जेबें खाली करा लेना आसान है, परन्तु ऐसी प्रवृत्तियों के आचरण का मार्ग दिखाना, जो ध र्म-ध्यान और तप-त्याग को जीवनचर्या का अंग बना लेना सिखाती हों, कठिन है। समाधि-स्थल बढ़ते जायें, परन्तु धर्म-प्रभावना तथा तप-त्याग की प्रवृत्तियां रुकतीं या कम होती जायें तो जीवन में उस धार्मिकता सांस्कृतिकता का आना असंभव हो जायेगा जिसकी आज के भौतिकवादी चिन्तन से त्रस्त इस दुनिया को सबसे अधिक आवश्यकता है।

बंधुओ! चिन्तन-मनन करें। जो भावनाएं व्यक्त की जा चुकी हैं, मैं उनकी पुनरावृत्ति नहीं करना चाहता। मैं तो केवल उस सहजता, सरलता और नम्रता की बात कहना चाहता हूं जो संत जीवन की थाती होती है। सहजता, सरलता, नम्रता नहीं तो वह साधु का कलेवर हो सकता है, पर जीवन संत का नहीं! संत के जीवन के लिए कहा गया है-

'सोही उज्जुय भूयस्स......।'

सरलता नहीं तो धर्म नहीं। धर्म नहीं तो साधु-जीवन की पालना कैसे होगी? सरलता संत-जीवन की पूंजी है। हो सकता है, यह किसी के पास कुछ कम हो और किसी के पास कुछ अधिक, पर यह है प्रत्येक के लिए आवश्यक।

आचार्य आनंदऋषिजी म.सा. की सरलता की बात आप सुन चुके हैं। बड़ों के प्रति सम्मान का कैसा भाव उनके इस कथन में है कि उपाचार्य पधारें तो मैं आ सकता हूं, इसे समझें। बड़ों का सम्मान संस्कृति का बीज है। ऐसी संस्कृति हमें मिली है, पर आज बड़ों को सम्मान देने वाले कितने मिलेंगे? घर में पिता हैं तो कितने काम उनसे पूछकर किये जाते हैं? बहू सासूजी से कितना पूछती है? यदि आप पहुंच जायेंगे चन्दे के लिए, तो सेठजी कहेंगे- बेटे से पूछकर

बताउंगा। यह उलटी बात है, आज ऐसे उलटे हालात होते जा रहे हैं। पहले भारतीय संस्कृति में देवताओं की पूजा होती थी। देवता कौन? माता-पिता, गुरु व अपने से बड़े। जहां इनकी भक्ति होती है, वहां क्लेश का काम नहीं रह सकता। आज माता-पिता, गुरुओं के प्रति कितना आदर-सम्मान का भाव रह गया है यह चिन्तन-मनन का विषय है। साधु-संतों की जन्म-जयंती मनाते समय हम उस चिन्तन को भी महत्त्व दें और सांस्कृतिक मूल्यों की पुनर्स्थापना के लिए कृत संकल्प हों, यह एक बड़ी आवश्यकता है। आचार्यश्री आनंदऋषिजी म.सा. की जन्म-शताब्दी के इस पावन अवसर पर यदि संकल्पित होकर हम इस दिशा में कदम बढ़ायेंगे तो हमारा यह जयंती मनाना सार्थक हो जायेगा।

❑❑

धर्मश्रद्धा से आत्मा की रक्षा

अभिनन्दन-जिन दरसन तरसिये.......।

अभिनन्दन-जिन दरसन तरसिये। अभिनन्दन-जिन के दर्शन हम चाहते हैं, यह बात ठीक है। किन्तु आज दुनिया में सबसे ज्यादा आवश्यकता किस बात की है? प्रश्न आपसे पूछने का मन हो गया इसलिए यह बात मैंने रखी-विचार कीजिये कि आज दुनिया में सबसे बढ़कर आवश्यकता किस बात की है? विचारों में निश्चित रूप से अंतर होता है। प्रत्येक व्यक्ति के अपने विचार होते हैं। इसलिए अगर एक-एक से पूछने लग जायें तो उत्तर एक-समान आना कठिन है। हो सकता है कि एक-दो के उत्तर सुनकर लोग उनके समान ही उत्तर देने लग जायें, पर अलग-अलग पूछ लें तो उत्तर में अंतर आना स्वाभाविक है क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति की आवश्यकता भिन्न है। किसी को धन की आवश्यकता है, किसी को संतान की, किसी को और किसी वस्तु की। आवश्यकता के आधार पर चिन्तन में अन्तर आ सकता है, पर हमें तत्त्व रूप में जानना चाहिये कि हमें किस पदार्थ की आवश्यकता है। हमें ही नहीं, यदि कहा जाय कि पूरे विश्व को किस चीज की आवश्यकता है, तो मेरे खयाल से तत्काल जबान पर शब्द आयेगा- 'शांति'। शान्ति की सबको आवश्यकता हो सकती है। पर मैं कहता हूँ- शांति की उतनी आवश्यकता नहीं है। आज यदि सबसे बढ़कर कोई आवश्यकता है तो वह है- 'आत्मविश्वास' की। वह आ गया तो सुख आ जायेगा। आत्मविश्वास आपके भीतर आ गया तो आप दुःखी नहीं हो सकते, सुख पीछे दौड़ता आयेगा। आज अधिकांश व्यक्ति आत्मविश्वास से वंचित हैं, उन्हें स्वयं पर ही विश्वास नहीं है। बिना विश्वास के निर्णायक कदम कैसे उठाया जा सकता है? एक व्यक्ति चल रहा है, पर मार्ग का विश्वास नहीं, तो दो कदम चलेगा, फिर लगेगा- पूछूं, सही मार्ग पर जा रहा हूं या नहीं? फिर दो कदम

बढ़ा, फिर पीछे देखेगा, किसी से पूछ लूं। कहने का आशय यह है कि जब तक विश्वास नहीं, तब तक व्यक्ति की गति और प्रवृत्ति दोनों दोलायमान बनी रहती हैं। व्यक्ति दोलायमान रहता है, इसी प्रकार आत्मविश्वास के अभाव में हमारी गति शिथिल रहती है। जब तक आत्मविश्वास की स्थिति नहीं बनती, तब तक सुख नहीं मिलता, शांति नहीं मिलती।

भगवान् से जो प्रश्न पूछा गया, वही प्रश्न आपके बीच चल रहा है।

''धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ''

श्रद्धा की बात बाद में करेंगे। पहले धर्म को तो समझें। अहिंसा-संयम-तप की त्रिपुटी- यह धर्म है। दया भी अहिंसा का ही एक नाम है। अतः विचार करें कि दया किस पर की जाय? चार प्रकार के भांगे बताये गये हैं-

१. स्वयं की करता है, पर की नहीं।
२. पर की करता है, स्वयं की नहीं।
३. स्वयं की व पर की, दोनों की करता है।
४. न स्वयं की, न पर की, दोनों की नहीं करता है।

स्थविरकल्पी और श्रावक का स्वरूप इस भांगे में रहा है कि स्वयं की भी दया करे और पर की भी करे।

स्वदया का रूप है- अहिंसा, हम अपने-आप में अहिंसक बन जायें। कभी हम विचार कर लें कि किसी प्राणी को नहीं मारेंगे, तो क्या हम अहिंसक बन जायेंगे? बात ध्यान में लेने की है। साधु की पोशाक पहनी, अहिंसा महाव्रत स्वीकार किया, छठे गुणस्थान तक भी चला गया, किन्तु वहां पर भी आत्मरंभी रहा। अपनी आत्मा का आरंभ करने वाला रहा। जब आरंभ करने वाला है तो क्या पूर्ण अहिंसक बन सकता है? जो आत्मारंभी होता है, वह दूसरे का आरंभ भी करता है। जो स्व-पर का आरंभ करने वाला होता है और स्व-पर के आरंभ करने की स्थिति बनती है, तो व्यक्ति स्वयं के प्रति अहिंसक नहीं बनता। यदि अहिंसा की एक पंक्ति में व्याख्या या अर्थ करना चाहें तो उसका अर्थ होगा कि हमारे 'जीवेषणा समाप्त हो जाये' यदि वह समाप्त हो जाती है तो आरंभ से ऊपर उठ जाते हैं।

आरंभ किसलिए करते हैं? कारण क्या हैं? मैं जिन्दा रहूं, मेरा परिवार जिन्दा रहे, यह जीवेषणा आरम्भ से जोड़ती है। इससे जितने गहरे जुड़ते हैं उतने ही हिंसा से जुड़ते हैं। जीवेषणा से जितने-जितने ऊपर उठेंगे, उतने-उतने

अहिंसक बनेंगे और जिस दिन जीवेषणा पूर्णतः समाप्त हो जायेगी वह दिन हमारे पूर्णतः अहिंसक बन जाने का होगा। वह दिन समता का होगा। अभी हम अहिंसा से जुड़े जरूर हैं, किन्तु उस कोटि की अहिंसा प्राप्त नहीं हुई है। पर लक्ष्य बना हुआ है।

साधुओं के लिए कहा गया है- तुम स्वाद के लिए भोजन करोगे तो अनेकानेक मिर्च-मसाले जोड़ते चले जाओगे, क्योंकि स्वाद में मनमर्जी की चीजें चाहिये। कई भाई कहते हैं- चाय अपने हाथ की पसन्द है, दूसरे के हाथ की पसन्द नहीं। कई व्यक्ति ऐसे होंगे जो दूसरों के हाथ की चाय पसन्द करते होंगे। साधु जीवेषणा में नहीं पड़े, इसलिए कहा गया है कि उसे रांधन-पाचन का कार्य नहीं करना है। वह दूसरे घरों में जायेगा, जहां साधु की मालिकी है नहीं, अतः दूसरा जो देगा, जो-कुछ बहरायेगा, उसमें उसे सन्तोष करना पड़ेगा। संतोष नहीं तो अध्यवसाय विचलित होंगे। जो बहराया जायेगा, जो मिलेगा, उसमें ही जब संतोष करेगा तो स्वादिष्ट है या नहीं, उसमें नहीं जायेगा। पर हमारी चित्तवृत्तियां विचित्र हैं, उसमें भी स्वाद ढूंढ लेगा। इसलिए कहा गया है कि- 'पूरी गवेषणा करके लाये', स्वाद में पड़ कर ठगना न सीखे। गृहस्थ के घर में गया। देखा, सब्जी मसालेदार है, ले ली। स्थानक में आये और भोजन करने बैठे और भोजन अलूणा निकल गया। मिर्च-मसाले बहुत, पर नमक नहीं। नाक, भौंहें सिकोड़ने लगा कि कैसी बहिन है? भूल गई। अब ये मिर्च-मसाले किस काम के? और गोचरी जाने के टाइम भी विचार नहीं करे स्वाद का- कि आज अमुक श्रावक के घर बड़ा भोज है इसलिए वहां से अच्छी-अच्छी स्वादिष्ट चीजें लाऊंगा। इससे जीवेषणा के भाव बढ़ेंगे। ये बढ़ेंगे तो अहिंसा की पराकाष्ठा नहीं आ पाएगी। सामायिक चारित्र में चलते रहोगे, पर यथाख्यात चारित्र नहीं मिल पाएगा। जब तक जीवेषणा रहेगी, व्यक्ति सरागता में डोलेगा, पर यथाख्यात चारित्र, पूर्ण समता, वीतरागता प्राप्त नहीं कर पायेगा। किसी व्यक्ति-विशेष की बात नहीं है, चाहे मरुदेवी माता हों या गजसुकुमाल मुनि, जिसने भी जीवेषणा समाप्त कर दी, उसने मुक्ति को वर लिया। गजसुकुमाल मुनि वह राह चाही कि शीघ्रता से अपने कार्य को संपन्न कैसे कर सकता हूं? रही उनमें जीने की इच्छा? आप कहेंगे- बड़े सम्राट् के घर में आये थे तो मन भरा था। यह भी मत समझ लेना कि जो बड़ा सम्राट् होता है वह पूरा धापा हुआ होता है, उसको लालसा नहीं होती। रावण बड़ा सम्राट् था पर उसकी लालसा का अंत नहीं था।

सुव्रत अणगार ने त्याग-वैराग्य से दीक्षा ली और लेने के बाद त्याग-वैराग्य के साथ ही तपस्या, अध्ययन भी प्रारंभ कर दिया। एक नगर में पहुंचे, श्रावक वर्ग सामने नहीं आया। संतों को विचार हुआ कि बात क्या है, यहां के श्रावक हैं तो धर्मरक्षिक, फिर सामने नहीं आने का क्या कारण है? संत नहीं चाहते कि श्रावक सामने आएं, पर जो परम्परा बनी होती है उसके अनुसार नहीं होता है तो सहज स्फुरणा बन जाती है। उसी प्रकार की स्फुरणा उन संतों के मन में बनी। बाद में जब श्रावक वर्ग आया तब ज्ञात हुआ कि उस दिन मोदक महोत्सव था। संतों ने पूछ लिया मोदक महोत्सव का तात्पर्य, तब बताया कि आज सभी अपने-अपने घर मोदक बनाते हैं, फिर परिजनों के साथ बगीचे आदि स्थानों पर पहुंच कर मोदपूर्वक मोदक खाते है। उसी संदर्भ में बताया कि जैसे हरियाली अमावस्या होती है वैसे ही अलग-अलग प्रांतों की अलग-अलग रीतियां हैं। यहां मोदक महोत्सव मनाया जाता है। इसलिए घर-घर में मोदक बने हैं। हां, जिसकी जैसी मर्जी हो वैसे बनाता है। कोई नुक्ती के, कोई चूरमे के, कोई मावे के और गुंजाइश हो तो सिंह केशरी मोदक भी बनाते हैं। केशरिया मोदक का नाम सुव्रत अणगार ने भी सुना, सुनकर सुव्रत अणगार के मन में पूर्व के संस्कार जग उठे- मैं घर में केशरिया मोदक का कलेवा करता था। वर्षो पहले खाया था, उसका स्वाद जीभ पर आने लगा। इधर गुरुजी ने कहा- आज मोदक महोत्सव है, गरिष्ठ भोजन मिलेगा, तो आज सभी उपवास कर लो। सभी ने कर लिया। सुव्रत ने सोचा- आज का मोदक चूके तो पता नहीं फिर कब मिले! अतः कहा- 'गुरुदेव! मुझे तो कमजोरी लग रही है, तबीयत बराबर नहीं है, 'देखिये, स्वाद में पड़े तो कमजोरी आ गई! मन कमजोर हो गया तो तन में कमजोरी आ गई। जीवेषणा व स्वाद के पीछे मन कैसे-कैसे दांव-पेंच खेलता है! गुरु ने कहा, कोई बात नहीं, विश्राम कर लो। गोचरी का समय हुआ, पातरे लेकर गुरु के पास आया। बोला- गुरुदेव! आपकी आज्ञा हो तो मैं गोचरी जाऊं? गुरु ने कहा- दूसरे संतों को भेज देता हूं, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। सोचा- दूसरे गये और सिंह केशरी मोदक न लाये तो उपवास भी छोड़ा और मोदक भी नहीं मिलेगा। कहा- 'गुरुदेव! दूसरों को क्यों तकलीफ दूं, मैं ही चला जाऊंगा धीरे-धीरे।' बन्धुओ! यह कपट कहां से कहां पटक देता है! कपट और पटक शब्दों के अक्षर वही हैं केवल उनका स्थान-परिवर्तन हुआ है। जो कपट करता है उसे वह पटक देता है, उसे दबाकर रखता है, आत्मा को ऊपर उठने नहीं

देता। आज्ञा हो गई। भिक्षा के लिए निकले। कई घरों में घूमे। कई जगह थे नहीं, कहीं थे तो असुसते पड़े थे। माथा ठनका, यह क्या स्थिति है? लगभग सभी घरों में घूम गये, पर सिंहकेशरी मोदक नहीं मिले। कैसी स्थिति है? व्यक्ति स्वाद के पीछे कहां से कहां पहुंच जाता है! संध्या तक घूमे, पर मोदक नहीं मिले। रात्रि हो गई, पर वे घूमे जा रहे थे। अव तो आवाज भी लगाने लगे - केशरिया मोदक, केशरिया मोदक। सड़क पर इतसततुः चल रहे थे। एक श्रावकजी ने अपने घर के गोखड़े के ऊपर से देखा कि आवाज कहां से आ रही है? अरे! ये तो संत हैं। ये तो मेरे घर भी आये थे, पर मोदक सूसते नहीं थे। बाहर आये, वोले- वापजी! पधारो-पधारो, कृपा करावो। घर में लाया। थाल भरकर मोदक लाया। संत की आंखों में चमक आ गई। पातरा निकाला झोली से, रख दिया। श्रावकजी ने भी थाल उठाया और पूरा पातरा उलट भाव से भर दिया। मन में यह नहीं सोचा कि कैसा भुक्कड़ साधु है।

श्रावक के लिए भाषा के आठ गुण वताये गये हैं- श्रावकजी थोड़ा वोलें, काम पड़ने पर वोलें, सूत्र-सिद्धांत के न्याय से वोलें, आगे-पीछे का पूरा विचार रखें, चतुराई से वात कहें, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का ध्यान रखें आदि।

श्रावक ने देखा, अभी माथा केशरिया मोदक में लगा है, कहना ठीक नहीं। इसलिए पहले वहरा दिया। जव संत पातरा उठाकर जाने लगे तो कहा- मत्थएण वंदामि। अभी समय क्या हुआ होगा? संत ने देखा, आकाश में तारे दिखाई दे रहे थे, रात के वारह वज रहे थे। ओहो! मेरे से कैसी भूल हो गई? कहते हैं- श्रावकजी मैं गुरु महाराज के पास जाना चाहता हूं। श्रावक ने कहा- अभी जाने की जरूरत नहीं, मेरी पौषधशाला में विराजें। पातरा एक तरफ रख दिया, अभी खाना नहीं है। इतना जागरण था। इतना जागरण रहे तो भी वचाव हो सकता है। एकांत में वैठ गये। चिन्तन चलने लगा- गुरु ने सुव्रत दिया और तुमने उसे कलंकित कर दिया। जीवेषणा के पीछे क्या कर लिया? तुम्हारे अंतराय का योग था। ओहो! धिक्कार है मेरी आत्मा को! पश्चात्ताप करने लगे। पश्चात्ताप करके सारा कल्मष धो लिया। घनघाती कर्म समाप्त हो गये और केवलज्ञान की ज्योति जगा गई।

'कैसा वह श्रावक और कैसे संत।'

रगड़ कहां लगानी और कैसे लगानी, यह वह श्रावक जानता था। लड्डू चले गये, कोई चिन्ता नहीं। यदि वह कहने लग जाता कि कैसा साधु है,

सुव्रत अणगार ने त्याग-वैराग्य से दीक्षा ली और लेने के बाद त्याग-वैराग्य के साथ ही तपस्या, अध्ययन भी प्रारंभ कर दिया। एक नगर में पहुंचे, श्रावक वर्ग सामने नहीं आया। संतों को विचार हुआ कि बात क्या है, यहां के श्रावक हैं तो धर्मरक्षिक, फिर सामने नहीं आने का क्या कारण है? संत नहीं चाहते कि श्रावक सामने आएं, पर जो परम्परा बनी होती है उसके अनुसार नहीं होता है तो सहज स्फुरणा बन जाती है। उसी प्रकार की स्फुरणा उन संतों के मन में बनी। बाद में जब श्रावक वर्ग आया तब ज्ञात हुआ कि उस दिन मोदक महोत्सव था। संतों ने पूछ लिया मोदक महोत्सव का तात्पर्य, तब बताया कि आज सभी अपने-अपने घर मोदक बनाते हैं, फिर परिजनों के साथ बगीचे आदि स्थानों पर पहुंच कर मोदपूर्वक मोदक खाते है। उसी संदर्भ में बताया कि जैसे हरियाली अमावस्या होती है वैसे ही अलग-अलग प्रांतों की अलग-अलग रीतियां हैं। यहां मोदक महोत्सव मनाया जाता है। इसलिए घर-घर में मोदक बने हैं। हां, जिसकी जैसी मर्जी हो वैसे बनाता है। कोई नुक्ती के, कोई चूरमे के, कोई मावे के और गुंजाइश हो तो सिंह केशरी मोदक भी बनाते हैं। केशरिया मोदक का नाम सुव्रत अणगार ने भी सुना, सुनकर सुव्रत अणगार के मन में पूर्व के संस्कार जग उठे- मैं घर में केशरिया मोदक का कलेवा करता था। वर्षों पहले खाया था, उसका स्वाद जीभ पर आने लगा। इधर गुरुजी ने कहा- आज मोदक महोत्सव है, गरिष्ठ भोजन मिलेगा, तो आज सभी उपवास कर लो। सभी ने कर लिया। सुव्रत ने सोचा- आज का मोदक चूके तो पता नहीं फिर कब मिले! अतः कहा- 'गुरुदेव! मुझे तो कमजोरी लग रही है, तबीयत बराबर नहीं है;' 'देखिये, स्वाद में पड़े तो कमजोरी आ गई! मन कमजोर हो गया तो तन में कमजोरी आ गई। जीवेषणा व स्वाद के पीछे मन कैसे-कैसे दांव-पेंच खेलता है! गुरु ने कहा, कोई बात नहीं, विश्राम कर लो। गोचरी का समय हुआ, पातरे लेकर गुरु के पास आया। बोला- गुरुदेव! आपकी आज्ञा हो तो मैं गोचरी जाऊं? गुरु ने कहा- दूसरे संतों को भेज देता हूं, तुम्हारी तबीयत ठीक नहीं है। सोचा- दूसरे गये और सिंह केशरी मोदक न लाये तो उपवास भी छोड़ा और मोदक भी नहीं मिलेगा। कहा- 'गुरुदेव! दूसरों को क्यों तकलीफ दूं, मैं ही चला जाऊंगा धीरे-धीरे।' बन्धुओ! यह कपट कहां से कहां पटक देता है! कपट और पटक शब्दों के अक्षर वही हैं केवल उनका स्थान-परिवर्तन हुआ है। जो कपट करता है उसे वह पटक देता है, उसे दबाकर रखता है, आत्मा को ऊपर उठने नहीं

देता। आज्ञा हो गई। भिक्षा के लिए निकले। कई घरों में घूमे। कई जगह थे नहीं, कहीं थे तो असुसते पड़े थे। माथा ठनका, यह क्या स्थिति है? लगभग सभी घरों में घूम गये, पर सिंहकेशरी मोदक नहीं मिले। कैसी स्थिति है? व्यक्ति स्वाद के पीछे कहां से कहां पहुंच जाता है! संध्या तक घूमे, पर मोदक नहीं मिले। रात्रि हो गई, पर वे घूमे जा रहे थे। अब तो आवाज भी लगाने लगे - केशरिया मोदक, केशरिया मोदक। सड़क पर इतसततः चल रहे थे। एक श्रावकजी ने अपने घर के गोखड़े के ऊपर से देखा कि आवाज कहां से आ रही है? अरे! ये तो संत हैं। ये तो मेरे घर भी आये थे, पर मोदक सूसते नहीं थे। बाहर आये, बोले- बापजी! पधारो-पधारो, कृपा करावो। घर में लाया। थाल भरकर मोदक लाया। संत की आंखों में चमक आ गई। पातरा निकाला झोली से, रख दिया। श्रावकजी ने भी थाल उठाया और पूरा पातरा उलट भाव से भर दिया। मन में यह नहीं सोचा कि कैसा भुक्कड़ साधु है।

श्रावक के लिए भाषा के आठ गुण बताये गये हैं- श्रावकजी थोड़ा बोलें, काम पड़ने पर बोलें, सूत्र-सिद्धांत के न्याय से बोलें, आगे-पीछे का पूरा विचार रखें, चतुराई से बात कहें, द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव का ध्यान रखें आदि।

श्रावक ने देखा, अभी माथा केशरिया मोदक में लगा है, कहना ठीक नहीं। इसलिए पहले बहरा दिया। जब संत पातरा उठाकर जाने लगे तो कहा- मत्थएण वंदामि। अभी समय क्या हुआ होगा? संत ने देखा, आकाश में तारे दिखाई दे रहे थे, रात के बारह बज रहे थे। ओहो! मेरे से कैसी भूल हो गई? कहते हैं- श्रावकजी मैं गुरु महाराज के पास जाना चाहता हूं। श्रावक ने कहा- अभी जाने की जरूरत नहीं, मेरी पौषधशाला में विराजें। पातरा एक तरफ रख दिया, अभी खाना नहीं है। इतना जागरण था। इतना जागरण रहे तो भी बचाव हो सकता है। एकांत में बैठ गये। चिन्तन चलने लगा- गुरु ने सुव्रत दिया और तुमने उसे कलंकित कर दिया। जीवेषणा के पीछे क्या कर लिया? तुम्हारे अंतराय का योग था। ओहो! धिक्कार है मेरी आत्मा को! पश्चात्ताप करने लगे। पश्चात्ताप करके सारा कल्मष धो लिया। घनघाती कर्म समाप्त हो गये और केवलज्ञान की ज्योति जगा गई।

'कैसा वह श्रावक और कैसे संत।'

रगड़ कहां लगानी और कैसे लगानी, यह वह श्रावक जानता था। लड्डू चले गये, कोई चिन्ता नहीं। यदि वह कहने लग जाता कि कैसा साधु है,

जिह्वा-लोलुप बनकर रात्रि को घूम रहा है तो स्थिति क्या बनती? किन्तु माता-पिता के विरुद को निभाने वाला श्रावक था, इसलिए उसके निमित्त ने गिरते हुए को कहां से कहां पहुंचा दिया! और सुव्रत जैसा संत, जिसने थोड़ा-सा निमित्त पाकर इष्ट सिद्ध कर लिया। सुबह गुरु के पास संवाद पहुंचा, गुरु चल पड़े शिष्य से मिलने। उधर सुव्रत पहुंच रहा था गुरु-चरणों में। मार्ग में ही मिलन हो गया। गुरु को सामने देखा, वंदन करने लगे तो गुरु ने कहा- तुम केवली हो, और मना कर दिया। गुरु भी चिन्तन में उतरे, गुरु को भी केवलज्ञान हो गया।

व्यक्ति उठना चाहे तो विचारों से उठ भी सकता है और जीवेषणा में उलझ जाय तो क्या दशा हो जाती है, आपने देख ली। जीवेषणा को समाप्त कर दिया तो जन्म-जन्मांतर को समाप्त कर दिया। इसलिए देखें कि हमारे भीतर जीवेषणा की क्या स्थिति है। यदि वह है तो समझलें, अभी बहुत तपना पड़ेगा। जब जीवेषणा समाप्त हो जायेगी तब देखियेगा भीतर कैसी वीरता जगती है! जब तक उस पर अंकुश नहीं लगाएंगे तो वीरता कैसे जगेगी? वहां तो हम अहिंसा के नाम का कम्बल ओढ़ लेते हैं ताकि अहिंसक की तरह लगें, पर ऐसा कम्बल हिंसा की सर्दी को समाप्त नहीं कर पाएगा। कई व्यक्ति कहते हैं, दो कम्बल ओढ़ लेता हूं, फिर भी ठंड लगती है, तो संतों को कैसे नींद आती होगी! मैं पहले ही बता चुका हूं- यदि जीवेषणा समाप्त हो गई, तो कम्बल नहीं भी ओढ़ेंगे तो भी सर्दी नहीं लगेगी। हवा का झोंका नहीं सताएगा क्योंकि तत्त्वज्ञान हो चुका होगा। फिर ऐसी बात रह नहीं जाती है।

भगवान् महावीर की आत्मा में भी त्रिपृष्ठ वासुदेव के भव में जीवेषणा के कीटाणु मौजूद थे। इसलिए अश्वग्रीव के दूत द्वारा अशिष्ट व्यवहार को देखकर उन्हें उत्तेजना आ गई। तब त्रिपृष्ठ कहने लगा- यह कैसा असभ्य है? सभा में आने के शिष्टाचार का भी ज्ञान नहीं! जिसे सभा की रीतियों-नीतियों का भी ज्ञान नहीं, वह व्यक्ति सभ्य कैसा? उसका सम्मान क्यों किया गया? पर अभी मुझे कुछ नहीं बोलना है, पूज्य पिताजी विराजमान हैं, उनका तिरस्कार न हो। उसने बाद में जानकारी ली कि वह कौन था, तो ज्ञात हुआ कि वह अश्वग्रीव का दूत था। सम्राट् ने बताया कि- स्वामी का कुत्ता भी आए तो दुम हिलानी पड़ती है, उसका भी उतना ही सम्मान करना पड़ता है। हालांकि वह दूत था, पर स्वामी का था। वे नाराज न हो जाएं इसलिए उन्हें खुश रखना था। यदि उनकी निगाह टेढ़ी हो जाती और दूत भी भड़काने का काम करता तो वे क्रोधि

हो जाते। उस स्थिति में इस राज्य के अस्तित्व पर ही संकट आ जाता।
ृष्ठ ने सोचा- यह कैसा सत्तामद? स्वामी भी यदि मनमानी करेगा तो प्रजा
े जीयेगी? स्वामी को भी अपने मान-सम्मान का ध्यान रखना चाहिये। पहले
में बुजुर्ग प्रवेश करते थे तो खंखार देते थे या खांसी कर देते थे ताकि
्-बेटी बैठी हों तो वे व्यवस्थित हो जायें। सभ्यता के ये तौर-तरीके संस्कारों
आते हैं। ये केवल आपके लिए ही नहीं, साधु के लिए भी बताये गये हैं-
ो यदि महासतियों के स्थान पर जाना हो तो उसे भी ध्यान रखना चाहिये।
ली बात तो निष्कारण संतों को सतियों के स्थान पर जाना ही नहीं चाहिये।
द काम ही हो, कोई तपस्विनी हो, बीमार हो, संथारा लिए हुए हो, दर्शन देने
ना पड़े, और भी कारण बताये गये हैं, जैसे- भंडोपकरण का विभाजन करने
किसी साध्वी की गमी हो गई हो और धैर्य बंधाने जाना पड़े, तो जाना कल्पता
पर तब भी तीन बार निस्सही-निस्सही-निस्सही का उच्चारण करें। एक बार
प्रवेश द्वार, पर फिर मकान के द्वार पर, तीसरी बार मकान के भीतर घुसते
मय निस्सही-निस्सही-निस्सही का प्रयोग करें। इस प्रकार तीन बार सूचना
र प्रवेश कर सकता है। यदि इस विधि का उल्लंघन करे तो वह अविधि
हलाती है। वैसे प्रवेश करना गलत है क्योंकि वह साधु जीवन की मर्यादा के
नुकूल नहीं होता। इसका कारण है, पता नहीं भीतर कैसी स्थिति हो, यदि वे
सावधान हों तो वे सावधान हो जाएं। हालांकि वस्त्र तो रहता ही है, पर कहीं
सक गया हो, आगे-पीछे हो गया हो तो वह ठीक-ठाक कर ले। कोई
ई-बहन न हो तो तत्काल लौट जायें। भाई-बहन हो तो जिस उद्देश्य के लिए
ा हो उसे शीघ्र सम्पन्न कर ले। सभ्यता की ऐसी बातें हर क्षेत्र में होती हैं।
र-तरीके कुछ अलग हो सकते हैं।

त्रिपृष्ठ ने विचार किया, बड़े सम्राट् का दूत है पर जब प्रवेश का
र-तरीका नहीं जानता तो सभ्य कैसा? इधर प्रजापति को वह इस प्रकार
ादेशित करता है जैसे कोई स्वामी अपने दास को करता है कि ऐसा करना है,
सा करना है। त्रिपृष्ठ के भीतर ज्वाला उठने लगी। यह कैसा तरीका? कैसे
लना, इसका भी इसे विवेक नहीं। ऐसे विचार त्रिपृष्ठ के क्रोध को भड़काने
ले बने। पर वह उसे भीतर ही भीतर दबाये रहा।

विचार कीजिये कि क्या क्रोध भीतर दबा रह सकता है? दबाया हुआ
ा और अधिक भड़काने वाला बनता है। अतः क्रोध को दबाओ मत, यदि

आपके भीतर क्षमता है तो क्रोध की शक्ति की दिशा बदल दो। क्रोध भी आत्मा की शक्ति से होता है। क्रोध का उदय होता है और उसमें आत्मा की शक्ति भी जुड़ जाती है तो उसमें ताकत आ जाती है। अतः आवश्यक है कि क्रोध को रूपान्तरित कर दिया जाय। विद्युत एक शक्ति है और आग भी एक शक्ति है। इन शक्तियों का, सर्दी है तो हीटर में और गर्मी है तो ए.सी. में उपयोग कर लेते हैं। वैसे ही क्रोध की शक्ति को मोड़ लीजिये। क्रोध को क्षमा में परिवर्तित किया जा सकता है, पर परिवर्तन करने का तरीका जानें, तभी कर सकते हैं। उसे दबाया, तो भड़केगा।

प्रजापति को आदेश दे दिया फिर उसे सम्राट् के लिए अनेक प्रकार की भेंट चढ़ाई गई। तत्पश्चात् चंद्रवेग को विदाई दे दी गई। वह विदा हुआ और दोनों भ्राता, त्रिपृष्ठ व उनके बड़े भ्राता अचलकुमार भी उसी मार्ग पर उसके पीछे चल पड़े। कुछ दूर जाने के बाद उन्होंने आवाज लगाई- ओ ढीठ! तुम्हें अपने व्यवहार पर लज्जा नहीं? सामान्य शिष्टाचार भी तुम नहीं जानते? त्रिपृष्ठ का पारा चढ़ रहा था- "देखता हूं कितनी ताकत है तुममें, एक मुक्के में काम तमाम कर दूंगा।" त्रिपृष्ठ ने मारने के लिए मुक्का उठाया तो अचलकुमार ने रोक दिया- बंधुवर! यह क्या कर रहे हो? यह तो बेचारा दास है। ऐसे कीड़े पर आप वार करेंगे? वीर को तो अपने समान वीर को ही चुनौती देनी चाहिये। कीट-पतंगे पर शक्ति व्यय करना उचित नहीं है। इसके साथ ही, दूत तो क्षम्य होता है। इसमें जितना भरा गया था, उतना इसने बोल दिया, अतः इसे माफ कर दो। बराबरी के योद्धा पर ही तुम्हें क्रोध करना चाहिये। इसे माफ कर दो। उन्होंने उसकी संपत्ति छीन ली और रवाना कर दिया। यह जीवेषणा का ही एक अंग था। यह एक क्रिया की प्रतिक्रिया थी। इसकी प्रतिक्रिया फिर होनी थी क्योंकि क्रिया-प्रतिक्रिया का चक्र चलता रहता है और जीवेषणा इसे गति देती रहती है। प्रजापति ने चन्द्रवेग को वापिस बुला कर समझाया। उन्हें ऐसा क्यों करना पड़ा? जीवेषणा के कारण। यह जीवेषणा लोगों से उचित-अनुचित सब करा लेती है। न्याय-अन्याय की बुद्धि पर भी यह आवरण लगा देती है। इस प्रकार कर्मों की दिशा और गति बदलने या परिवर्तित करने में जीवेषणा का बड़ा योग होता है। जीवेषणा आरंभ से जोड़ती है इसलिए यह आवश्यक है कि उसकी शक्ति की दिशा को बदला जाय और उसे कल्याणकारी दिशा में मोड़ा जाय। यह संयम से ही संभव है। ऐसा संयम तप बन जाता है। इसीलिए धर्म की अहिंसा,

संयम और तप की त्रिपुटी के रूप में परिकल्पना कर उसकी प्रकृति को व्याख्यायित किया गया है। धर्म को ऐसी श्रद्धा से अव्याबाध सुख की प्राप्ति होती है। भगवान् से जब पूछा गया-

''धम्म सद्धाएणं भंते! जीवे किं जणयइ?''

तब उन्होंने यही उत्तर दिया कि धर्म का ऐसा साधक अकेला हो या परिषद् में, सर्वत्र, सभी परिस्थितियों में आत्मा की रक्षा करता है (उत्तराध्ययन २६/३)। हम धर्मश्रद्धा की इस प्रकृति को समझें और तदनुसार आचरण कर अपना कल्याण करें।

❑❑

वीरियं दुल्लहं

उत्तराध्ययन सूत्र में सम्यक्त्व पराक्रम की चर्चा की गई है। वहां सम्यक्त्व या सम्यग्दर्शन को आध्यात्मिक जीवन का प्राण कहा गया है क्योंकि यह जीवन को वह सही दिशा देता है जिसमें चलकर जीवन उत्थान की ओर अग्रसर होता है। उत्तराध्ययन सूत्र के अनुसार प्रश्नों के जो उत्तर भगवान् ने दिये हैं उनमें साधना-पद्धति का मौलिक निरूपण हुआ है। प्रायः सम्पूर्ण जैनाचार इनमें समाहित हो गया है। आप इससे मार्गदर्शन लें, यह आवश्यक है। इस दृष्टि से मैं आपसे धर्मश्रद्धा पर चर्चा कर रहा हूं, क्योंकि बिना सच्ची धर्मश्रद्धा के अव्यवाध सुख की प्राप्ति नहीं हो सकती।

धर्मश्रद्धा क्या होती है, इसकी विवेचना करने से पूर्व मैं आपके सामने एक स्थिति रख रहा हूं। मान लीजिये, आपको सूचना मिले कि २५वें तीर्थंकर जन्म ले चुके हैं और वे पूरे समवसरण के साथ जयपुर के बाहर पधारे हुए हैं, तो कितने लोग दर्शन करने जाएंगे, कितने बचेंगे? निशचित रूप से यह तभी बताया जा सकता है जब ऐसी स्थिति आ जाय, परन्तु लगता है, कोई भूले-भटके भले रह जाय, बाकी भावना सभी की रहेगी कि देखें २५वें तीर्थंकर कैसे हैं। वे यह नहीं सोचेंगे कि २५वें तीर्थंकर तो न भूतो न भविष्यति २५वें तीर्थंकर नहीं होते। कहेंगे, फिर भी बात सुन लें। तो मेरे खयाल से दर्शनों के लिये लाइन लग जाएगी। क्या कारण है? एक तरफ हम कह रहे हैं- 'धम्मसद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ' दूसरी तरफ २५वें तीर्थंकर के दर्शन करने की इच्छा रखते हैं, तो किस फल की प्राप्ति होगी? हम एक तरफ धर्मश्रद्धा के फल की चर्चा करना चाहते हैं, पर दूसरी तरफ धर्म की बात में संदेह के प्रमाण भी प्रस्तुत करते हैं। ऐसी चर्चा से क्या लाभ? ऐसी चर्चा मनोविनोद के लिए हो सकती है, मस्तिष्क को सक्रिय करने के लिए या मस्तिष्क की खाज मिटाने के लिए हो सकती है, परन्तु उसकी कोई सार्थकता नहीं। धर्मश्रद्धा केवल मुंह से नहीं होनी

चाहिए, वह रग-रग में रम जानी चाहिए। सुलसा श्राविका के साथ ऐसा ही था। उसकी रग-रग में धर्मश्रद्धा थी। अम्बड़ संन्यासी ने २५वें तीर्थंकर का रूप भी दिखाया और कहा कि सुलसा का निमन्त्रण स्वीकार करने को तैयार हूं। लोग भी कहने लगे- तुम्हारा भाग्य उदय में आया है, चलो २५वें तीर्थंकर के दर्शन कर लो। पर गई क्या सुलसा? नहीं गई। एक बहिन में इतनी दृढता! किन्तु लंबी-लंबी मूंछों पर ताव देने वाले, बड़ी-बड़ी बाते करने वाले लोग इतने दृढ़ नहीं रह पाते। पर एक महिला इतनी दृढ़ रही। सारी दुनियां चली जाये, सूर्य पूर्व के बजाय पश्चिम में उदित हो जाय, समुद्र अपनी मर्यादा छोड़ दे पर २५वें तीर्थंकर के दर्शन करने सुलसा नहीं जायेगी। यह है धर्म की श्रद्धा।

धर्म की श्रद्धा क्या होती है, उसका छोटा-सा स्वरूप तो दिखाया है, यह श्रद्धा धर्म पर बनती कैसे है, इसे समझने के लिए पहले धर्म के स्वरूप को जानना होगा। धर्म अहिंसा, संयम और तप का मिश्रित रूप है। अहिंसा की यदि कुछ बातें ही आपके सामने की जायं तो अहिंसा सार्थक नहीं हो पाएगी। वह सार्थक होगी संयम की पालना से और संयम भी सार्थक तब होगा जब वह तपपूर्वक हो। आप कहेंगे- यह कैसी बात है? पर बात एकदम स्पष्ट है। यह एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। तप का स्वरूप है-"इच्छानिरोधस्तपः" इच्छा का निरोध। निरोध, बिना संयम के नहीं होगा। जब तक संयम नहीं तब तक अहिंसा का परिणाम आ नहीं सकता। असंयम में पड़े रहेंगे, यह असंभव है। मन-वचन-काया का संयम नहीं हो तो अहिंसा का जो फल मिलना चाहिये, वह मिल नहीं सकता।

दूसरी परिभाषा के आधार पर यदि चर्चा करें तो कहना होगा कि अहिंसा में प्रवेश पाने के लिए तप द्वार है, संयम वेदिका है और वेदिका पर विराजमान होने वाला अहिंसा है। यदि हम संयम और तप को न जानें तो अहिंसा को कैसे जानेंगे? हमें अहिंसा बड़ी सरल लगती है तो कह देते हैं, हम अहिंसक हैं। पर पूछें कि हमारे भीतर संयम कितना है? क्या एक क्षण का भी संयम हम रख पाते हैं? यदि किसी ने कठोर बात कह दी तो हम संयम कितना रख पाते हैं? ताकत नहीं है तो भले मुंह से शब्द न निकले पर मन में प्रतिक्रिया तो होती ही है कि ताकत होती तो बता देता कि बोला कैसे जाता है। यदि यही है हमारे संयम की वास्तविकता तो वह हमें पूर्ण अहिंसक नहीं बना सकता।

इसीलिए जहां सामायिक छेदोपस्थनीय चारित्र है, वह भी पूर्ण अहिंसा का स्वरूप उजागर नहीं होता।

पूर्ण अहिंसा के लिए वेदिका भी मजबूत चाहिये। उसके लिए कौनसे चारित्र की वेदिका चाहिए? यथाख्यात की वेदिका। यथाख्यात की वेदिका है तो उस पर विराजमान हो सकती है अहिंसा। उसे समता कहें, वीतरागता कहें या अहिंसा कहें। उसके लिए चाहिये यथाख्यात संयम सामायिक छेदोपस्थानीय आदि यथाख्यात तक पहुंचाने के साधन हैं, किन्तु हमें यहीं नहीं रुकना है, हमें यथाख्यात चारित्र प्राप्त करना है। विवाह-शादी या मांगलिक कार्यों में दूध से मुंह जूठा कराया जाता है या दही से जूठा कराया जाता है? दूध से नहीं, दही से जूठा कराया जाता है। और कहीं-कहीं तिलक लगाने में चांदी का सिक्का दही भिगोकर लगाते हैं। दही का ही प्रयोग क्यों होता है, दूध या छाछ का प्रयोग क्यों नहीं होता? इसलिंये कि दूध को नहीं, किन्तु दही को मांगलिक पदार्थ माना जांता है। इसका कारण क्या है? दहीं को इसलिये क्योंकि वह जमा हुआ होता है, छिछला नहीं होता। वैसे ही संयम के लिए आवश्यकता होती है। चित्तवृति के जमाव की। "जितना-जितना चित्त में छिछलापन है, उतना-उतना असंयम बढ़ता है।" चित्त जितना-जितना समाधिस्थ होगा, उतना ही जमा हुआ और स्थिर होगा। जिस समय दही पूर्ण जम जाय या दूध का मावा बन जाय, फिर उसमें उफान नहीं आयेगा। पत्थर डालने पर भी उसमे उछाला नहीं आएगा। मावा ठोस जो बन गया है। वैसे ही है संयम की साधना। वैसी अवस्था चित्त की बन जाय, फिर देखिये कैसे अहिंसा अवतरित नहीं होती है। और जब अहिंसा उपस्थित हो जाती है तब हम धर्म में उपस्थित हो जाते हैं।

आप कहते हैं कि हम धर्म की आराधना तो करते हैं पर मन में तो शिकायतें भरी रहती हैं। शिकायतें, एक पर एक शिकायतें! मन तो वैसे ही थपेड़े खाता रहता है, जैसे समुद्र में पानी। प्रवाह आता है, तट से टकराता है, चला जाता है। फिर दूसरी तंरग आती है, तट से टकरा कर चली जाती है। जैसे समुद्र में लहरें आती रहती है, वैसी ही लहरें हमारे मन में आती रहती है। ववंडर आता है, फिर लौटता है, फिर आता है। कितने ही आते हैं, पर हम उन्हें केन्द्रित नहीं कर पाते हैं। विचारों को हम कन्ट्रोल नहीं कर पाते हैं और कई वार ऐसा होता है कि जव मन में विचार चल रहे होते हैं कहीं के, तव हम कहीं और होते हैं। मन कहीं और हम कहीं और। वह आपका है या पराया?

है तो आपका ही, पर आपकी बात नहीं मानता, फिर भी है बड़ा चंचल। यदि आप सावधान हों तो मन आपके सामने ऐसे रहेगा, जैसे चंचल बालक। और आप थोड़े-से असावधान हुए नहीं कि वह खिसक जायेगा। मन-वचन-काया का सुप्रतिष्ठित होना आवश्यक है। भगवान् ने कह दिया है- धर्मश्रद्धा का यह फल होता है और हमने यह समझ लिया- धम्मसद्धाए णं....।

हम मान लेते हैं कि धर्म पर श्रद्धा करते हैं तो भगवान् की बात हम पर लागू हो जाती है। किन्तु बात इतनी सरल नहीं है। उसका परिणाम बताया है-"**सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ।**" पहले राग (विषयसुखों के प्रति आसक्ति) करता हुआ विरक्त हो जाता है।

यह देखिये कि आपके चित्त की अवस्था कितनी साता में रची-पची है या उससे उपरत हो रही है। जहां भी हम बैठते हैं तो सोचते हैं- यहां साता मिले, यहां साता प्राप्त हो। आप जानते हैं कि धर्मस्थान बनाने वाले और होते हैं, और धर्म-ध्यान करने वाले और धर्मस्थान बनवाने वालों को पता नहीं होला कि धर्मध्यान करने वाले को किसमें साता रहती है! यहां इस लाल भवन में तो फिर भी बीच में खुला स्थान है, पर एक बार यहां जब सतियांजी विराजी थीं, तो श्रावको को पौषध गणगौर वाले स्थानक में करना पड़ा था। वहां तो पसीने के रिंगे ही रिंगे उतरते हैं। संवत्सरी को पौषधोपवास करें तो चिंता होती है कि आसन कहां बिछाऊं? उस दिन थोड़ी भी जहां साता होगी वहां पहले मैं आसन बिछालूं, ऐसा मन करता है। अब सोचिये कि हम तो धर्मात्मा हैं, हर अवस्था में साता रहनी चाहिए। फिर अमुक स्थान में ही साता का भाव रहा क्या। यह है गहराई से सोचने की बात। ये हमारे मन के भाव हैं। वैसे देखें तो कुछ नहीं है और सोचें तो बहुत-कुछ है। कोई भी अवस्था रहे, विचलित न हों। यहां हैं तो कोई बात नहीं, हवा के पुद्गल हैं तो कोई बात नहीं, नहीं हैं तो कोई बात नहीं। पर ऐसी बात जल्दी से गले नहीं उतरेगी। फिर भी कितने ही साधक हुए हैं जिन्होंने चाहे कितनी ही सर्दी हो कड़ाके की ठण्ड में, चाहे कितनी ही गर्मी हो गर्मी की चिलचिलाती धूप में, आतापना ली है और ले रहे हैं। शास्त्रकार कहते हैं-

"आयावयाही चय सोगमल्लं, कामे कमाहि कमियं खु दुक्खे।
छिंदाहि दोस विणएज्ज रागं, एवं सुही होहिसि संपराए॥"

सुकुमारता को त्याग दें। जहां गर्मी हो वहां हवा की कामना न करें कि

शरीर को ठंडक में सुलायें तो नींद अच्छी आएगी। यदि ऐसी विचारणा आती है तो भगवान् कहते हैं- अभी तुम्हारा चित्त वहां से निकला नहीं है, वहीं अटका है।

एक सम्राट् ने महात्मा का उपदेश सुना। उपदेश ऐसा लगा कि उसने निश्चय कर लिया कि मुझे अब संसार में नहीं रहना है। गुरुजी से कहा तो गुरुजी ने कहा- "सोचले! भावुकता में आना ठीक नहीं है।" उसने कहा- नहीं गुरुजी! मैंने सोच लिया है। गुरु ने संन्यास दे दिया। तपस्वी बन गया सम्राट्। दीक्षा देने वाले गुरु तो कुछ दिन बाद विहार कर गये पर वह वहीं कुटिया बना कर जप-तप-साधना करने लगा। एक वर्ष बीता होगा, दीक्षा देने वाले गुरु लौट कर आये। सोचा, इधर से निकला हूं, उसे भी देख लूं। शिष्य ने गुरु को देखा तो प्रमुदित हुआ। आदर्-सत्कार किया और अपनी कुटिया में लाया। ससम्मान आसन पर बिठाया, सेवा की फिर अपनी कुटिया दिखाई और कहा- भगवन्! एक वर्ष से मैं यहीं पर साधना कर रहा हूं। गुरु ने कहा- भाई! यह बता कि तू बदला कितना? मैं तो तुझे अभी भी सम्राट् के रूप में ही देख रहा हूं। शिष्य ने आश्चर्य से कहा- मैं सम्राट्? कहां है राज्य-वैभव? मैं सब-कुछ तो त्याग चुका हूं, आप कैसे सम्राट् मान रहे हैं मुझे? गुरु ने कहा- वहां तू रत्नों के कंकरों से खेलता था, यहां नदी से निकलने वाले सीप के टुकड़े सजाने में लगा है। वहां खजाना सजाता था, यहां कुटिया। अंतर क्या है? द्रव्य-क्षेत्र-काल का अंतर है, किन्तु भावों में अंतर कहां आया है? भाव तो पहले भी सजावट के थे, अब भी वही हैं। भाव में कोई बदलाव नहीं आया है।

वैसे ही हमने साता के स्वरूप का अंतर कर दिया है। हो सकता है, संसार का सुख छोड़ दिया हो, पर शारीरिक-मानसिक साता के प्रति तो अब भी उतना ही झुकाव है। जब तक इनके प्रति रुक्ष अवस्था नहीं बनेगी तब तक धर्मश्रद्धा की दृढ़ भावना प्रकट नहीं होगी। ऐसा नहीं है कि वह हो ही नहीं। जिनमें ऐसी दृढ़ता आ गई, फिर चाहे उनके माथे पर अंगार रखे गये हों या कानों में कीले ठोंके गये हों, उन्हें गर्मी नहीं लगी, उनके दर्द नहीं हुआ। ऐसा भेद-विज्ञान के कारण हुआ।

क्या होता है भेद विज्ञान? बातें कितनी सरल है। आप भी कुछ जानते होगें। आज हम व्यक्ति-व्यक्ति में भेद तो जरूर करते हैं और ऐसा भेद विज्ञान नस-नस में रमा हुआ भी होगा, पर जो रमना चाहिए वह नहीं रमा। वह जब

रमता है तब ही हम अभेद की अवस्था में आ सकते हैं। जब हमारे भीतर अभेद प्रकट होता है तब अभेद आ जाता है और जब तक भेद रहता है तब तक भेद की बातें करते हैं- यह अमुक संप्रदाय का है, यह अमुक संप्रदाय का है। यह जैनी है, वह अमुक है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कैसी भेद-रेखा खड़ी कर देते हैं भेद अभेद को जरा समझ लेना आवश्यक है। जब आत्मा व शरीर का भेद ज्ञान होता है। तब समस्त प्राणी वर्ग के साथ हमारा अभेद सिद्ध हो जाता है। जब शरीर के साथ अभेद सम्बन्ध मानकर चलते हैं तब जन-जन में, प्राणी-प्राणी में भेद खड़ा कर लेते हैं।

भगवान् तो कहते हैं- चेतना में भेद नहीं है।"

''सिद्धां जैसो जीव है, जीव सो ही सिद्ध होय।

आप कहेंगे- ये बातें तो आदर्श की हैं। आदर्श की नहीं हैं, धरातल की हैं। पर कब? जब हम उस पर आरूढ़ हो जायं। यदि आरूढ़ नहीं हैं तो पहाड़ पर खड़ा व्यक्ति जैसा नजर आता है, वैसी ही दशा हमारी होती है। हम स्वयं पहाड़ पर खड़े हो जायं तो ही यथार्थ ज्ञात होगा। वैसे ही धर्म के शिखर पर चढ़ जायं तो अंतर नहीं रहेगा। केवली-केवली में कोई भेद नहीं है, उनके चारित्र में, उनकी आत्मउज्वलता में कोई भेद नहीं है। भेद रेखा समाप्त। जब तक अधूरे रहते हैं, भेद पनपते हैं। पूर्ण हुए नहीं कि भेद सारे मिट जाते हैं। उन सारे भेदों को भरने के लिए अहिंसा के शिखर की यात्रा करनी होती है। जो हमें धर्म तक पहुंचने वाला है उसे जान कर यदि संयमपूर्वक यात्रा चलती है तो फिर देखिये, कैसा आनंद आता है। जहां संयम नहीं है वहां समझौते चलते हैं। समझौता कैसे होता है, इसे हम प्रजापति के आख्यान से भलीभांति समझ सकते हैं!

प्रजापति सम्राट् मंत्री को भेजकर चंद्रवेग को पुनः बुलाते हैं। हाथ जोड़कर क्षमा मांगते हैं, कहते हैं- देखो! आपके व हमारे लम्बे समय से गहरे सम्बन्ध रहे हैं, उनमें दरार नहीं पड़नी चाहिये। वह सम्बन्ध सदा कायम रहना चाहिए। बालक-बालक होता है। इनमें जवानी का जोश है। हम सम्राट् का दिया खा रहे हैं। ये लोग यह बात नहीं समझते। यह उम्र ही ऐसी होती है। एक जगह टिकने नहीं देती, कुछ-न-कुछ करते रहते हैं। अभी ये बछड़े गाड़ी में जुते नहीं है और आप जानते हो बिना जुते बछड़े वैसे ही उछल-कूद करते रहते हैं। यही हालत कुमारों की है। जब ये गृहस्थी की गाड़ी में जुतेंगे तो इन्हें मालूम पड़ेगा।

इसलिए इस पर विचार न करें और लंबे समय से जो सद्भाव चल रहा है, उसे कायम रखें। चंद्रवेग को शांत करके, पहले से भी चार गुना अधिक रत्न-आभूषण भेंट कर प्रजापति ने कहा- हे महाभाग! सम्राट् के सामने शिकायत मत करना। राजा कान के कच्चे होते हैं। एक बार शिकायत हुई तो फिर परस्पर व्यवहार समाप्त। इसलिए बात अपने तक सीमित रखना। चंद्रवेग ने कहा- मुझे शिकायत नहीं करनी है और उन्हें आश्वस्त करने के लिये कहा- मुझ पर विश्वास करियेगा। यह समझौता किसलिए करना पड़ा? स्पष्ट है कि इसलिये कि हम आराम से जीएं, हम पर विपदाएं न आएं। पर क्या आने वाली विपदाएं टल सकती हैं?

चंद्रवेग अश्वग्रीव सम्राट के पास पहुंचा। उसने सोचा कि प्रजापति के संबंध की बात नहीं कहूंगा किन्तु जैसे ही अश्वग्रीव के सामने पहुंचा, उनके चेहरे के हाव-भाव देखे तो समझ गया कि मेरे आने से पहले ही यहां मोती पोये जा चुके हैं, कान फूंके जा चुके हैं। इसलिए लाग-लपेट नहीं चलेगी। पहले मुझे अपना बचाव करना होगा। अकबर-बीरबल का किस्सा आप जानते ही हैं। अकबर ने पूछा कि तुम्हारी दाढ़ी में आग लगी, मान लो उसी समय मेरी भी दाढ़ी में आग लग जाय तो पहले किसकी बुझाओगे? बीरबल ने कहा- एक हाथ पहले मेरी अपनी दाढ़ी पर जायेगा फिर दूसरा हाथ आपके लिए बढ़ सकता है। वैसे ही चन्द्रवेग सम्राट् के हाव-भाव समझ गया था। उसने सोचा कि पहले अपना बचाव करना है इसलिए बात को व्यवस्थित तरीके से कहने की आवश्यकता है। दो सैनिक, जो उन कुमारों को देख कर, डरकर भागे थे, उन्होंने हाल बता दिया था। चन्द्रवेग ने कहा- आप निश्चिन्त रहिये, प्रजापति सम्राट् का आप से कोई भी दुराव नहीं है, पर लड़के उच्छृंखल हैं। अभी दूध के दांत टूटे नहीं हैं, उनके लिए कहा नहीं जा सकता, वे विनोद कर सकते हैं। वे किसी के साथ खेल खेल सकते हैं। क्योंकि कच्ची उमर है। वे कुछ भी बक सकते हैं पर प्रजापति पूर्ण निष्ठावान हैं। चन्द्रवेग ऐसा क्यों बोला? क्योंकि उसको जीवेषणा के साधन मिले थे। वांछित धन मिला था इसलिए उसने बात को जमाने का प्रयत्न किया। चन्द्रवेग भी यदि कुमार की मार खाकर आया होता तो ऐसे ही बातें करता? स्पष्ट है, उस समय वह जो बात करता उसका रूप कुछ अलग ही होता! सम्राट् ने विचार किया कि कोई कितना ही निष्ठावान हो, पर 'काचर का बीज क्या बड़ा और क्या छोटा'? वह दूध का घातक होता है, दूध को फाड़ सकता है। छोटा

समझकर उसकी अवहेलना नहीं की जा सकती। ऐसा सोचकर सम्राट् ने कहा- ठीक है, यदि प्रजापति निष्ठावान हैं तो सिंह से सुरक्षा के लिए प्रजापति का नम्बर लगा दो कि वे सिंह से जनता की रक्षा करें। अनुचर आदेश लेकर प्रजापति के पास पहुंचे।

प्रजापति का मन कुशंका से घिर गया। उन्होंने अनुभव किया कि कहीं-न-कहीं मेरे प्रति उनका मन बदल गया है। यह उसी का प्रमाण है कि आज यह आदेश भिजवाया है कि आततायी सिंह से रक्षा करनी है। अब तक उनकी जो कृपादृष्टि थी वह अब क्रूरदृष्टि बनने लगी है। वे उदास हो गये। उदास क्यों हो गए? उदास होने का कारण आराम में दखल, जीवेषणा में खलल पहुंचा था। वे दोनों कुमारों से कहने लगे- तुम लोगों के कारण ही ये दिन देखने पड़ रहे हैं। आज तक आराम से रह रहे थे। तुम लोगों ने जो दुर्व्यहार किया, उसी का यह नतीजा है। उनका आदेश है कि सीमान्त क्षेत्र की जनता की रक्षा करनी है। कुमारों ने कहा- पूज्यवर, इसमें घबराने की क्या बात है? आप हमें आदेश दीजिये, हम सिंह पर विजय प्राप्त कर लेंगे।

प्रजापति ने कहा- रहने दो, दूध के दांत तो टूटे नहीं हैं, सिंह पर विजय प्राप्त करोगे! पहले ही बिना विचारे काम किया उसकी यह मुसीबत आ चुकी है। फिर गये तो पश्चात्ताप ही हाथ लगेगा। लड़के सोचने लगे कि कैसे समझायें बड़ों! को उन्हें तो अनुनय से ही मनाया जा सकता है। इसलिए अनुनय-विनय से स्वीकृति ली। सीमान्त प्रदेश में पहुंचे। ग्रामीण जनता से पूछा- सिंह कहां रहता है? पहले के राजाओं ने क्या व्यवहार किया है। सारी बातें जानकर वारीकी से क्षेत्र का निरीक्षण किया व प्राप्त जानकारी स्मृतिकोष में जमा कर ली। अव तक जो राजा आये थे वे हाथी-घोड़े लेकर, चक्रव्यूह बना कर, ग्रामीणों के वीच आ जाते थे। ज्योंही सिंह को देखते, वे पेड़ पर चढ़ जाते थे। सिंह आता और कभी उन हाथी-घोड़ों को मारकर, कभी ग्रामीण जनता पर हमला कर जव लौट जाता तव वे हड्डियां इकट्ठी करके, विजय का डंका वजाते खवर दे देते कि हमने जनता की रक्षा कर ली है। इस प्रकार उन्होंने वहुत-से सैनिक खोये। यह हाल इन लड़कों ने सुना। फिर पूछा- वह सिंह रहता कहां है? ग्रामीणों ने इशारे से गुफा वता दी। कुमारों ने विचार किया कि सिंह तो सोता रहेगा, कब तक यहां वैठे रहें! वह कव तक आये पता नहीं। तव तक समय वरवाद कौन करे! चलते हैं, उस वीर से वहीं दो-दो हाथ कर लेंगे। वहुत-से सैनिकों को वहीं

इच्छा निरोहो तवो

जो वस्त्र निरन्तर काम में आता रहता है, जिसका निरन्तर उपयोग किया जाता रहता है वह वस्त्र धीरे-धीरे घिसता रहता है और जैसे-जैसे वह घिसता जाता है उसकी मजबूती कम होती जाती है। एक नया थान होता है, मजबूत होता है पर वही पुराना हो जाय तो उसमें थामने की शक्ति नहीं रह जाती। हमारा यह शरीर जवानी में कैसे भी आघात सह लेता है, पर बुढापे की अवस्था में वैसे आघात सह नहीं पाता। जवानी में चोटें लगती हैं तो थोड़े दिनों में घाव भर जाते हैं। बचपन में लगे तो कपडे झाड़ कर उठ जाते है, पर वृद्धावस्था में कहीं चोट लगे तो जल्दी ठीक नहीं होती। यह व्यवहार के धरातल पर आप देखते हैं। वही अवस्था आत्मा के संबंध में भी आती है। भगवान से पूछा गया-**"धम्मसद्धाए णं भंते। जीवे किं जणयइ।"**

यह विषय लम्बी विचारणा का है अतः पहले धर्म के स्वरूप की चर्चा कर लें, उसके बाद श्रद्धा पर चर्चा उपयुक्त होगी। पहले वस्तु-रूप या पदार्थ क्या है, इसे समझें? इसका भलीभांति विज्ञान हो फिर पदार्थ के प्रति श्रद्धा जग सकती है। इसलिए धर्म को जानना आवश्यक है।

हमारे मन मे इच्छाओं का जन्म होता रहता है। एक इच्छा पूर्ण होती है कि दूसरी इच्छा जाग्रत् हो जाती है। जैसे गंदगी में जन्म लेकर एक-दो मच्छर ऊपर उठते हैं, फिर उनके विकास का क्रम चालू हो जाता है और मच्छरों की भरमार हो जाती है तब मालूम नहीं होता कि पहले कहां थे। दिन में भले नजर न आयें, पर रात में उनकी भनभनाहट चालू हो जाती है। ऐसे ही इच्छाओं की उत्पत्ति हमारे भीतर होती रहती है। इच्छाओं की उत्पत्ति होती रहने से आत्मा उसी प्रकार कमजोर होती जाती है जैसे मन रूपी कपड़े का निरन्तर उपयोग होने से वह घिसता रहता है। वह जितना घिसेगा, उसमें धर्म को झेलने की शक्ति उतनी ही कम होती जायेगी।

धर्म अहिंसा-संयम और तप रूप है। अहिंसा को परमोधर्म कहा गया है, पर अहिंसा ऐसी हो जिसमें संयम व तप हो। जिसमे तप नहीं, इच्छा का निरोध नहीं और संयम-भाव नहीं वह अहिंसा कैसे सार्थक हो सकती है? बहुत-से व्यक्ति अहिंसा का पालन करते है पर यदि इच्छा का निरोध नहीं है और संयम नहीं है तो उसे धर्म में ग्रहण नहीं किया जा सकता है। बहुत-से व्यक्ति मासखमण जैसी लम्बी तपस्या कर लेते हैं। पर यदि संयमित नहीं होते तो धर्म नहीं होगा। तप जरूर है, पर इच्छा का निरोध नहीं है। ऐसी कठोर तपस्या की, पर लालसा नहीं छटी तो धर्मलाभ कैसे मिलेगा? दृढ़ता से क्रिया का पालन तो किया जाय, पर स्वर्ग के सुख को प्राप्त करने की भावना हो तो भी वह क्रिया फलवती नहीं हो सकती। इतनी दृढ़ता से क्रियाओं का पालन करे कि उन क्रियाओं के फलस्वरूप ६ ग्रैवेयक तक पहुंच सके, पर उसकी दृष्टि धर्म पर और आत्मा पर नहीं हो, भौतिक सुखों पर लगी रहती हो कि ज्यादा से ज्यादा स्वर्ग-सुख कैसे मिले उसका चिन्तन रहे कि यहां थोड़ी कठिनाई उठानी पड़े तो उठा लूं क्योंकि थोड़ी कठिनाई से बहुत लाभ होने वाला है अतः लाभ की दिशा में गति करूं, तो उसकी तपस्या और आचरण इच्छाओं से जुड़ा हुआ होता है। इच्छाओं से जुड़ा होने के कारण वह आनन्द प्राप्त नहीं कर सकता। ऐसा व्यक्ति धर्म-तत्त्व को प्राप्त कर नहीं पाता है। इसलिए बहुत गहराई से समझें।

अनादिकाल से हम इच्छाओं से संत्रस्त बने हुए हैं। इच्छाओं की गुलामी में हम जकड़े रहे हैं। जैसे ऊपर की हथकड़ी-बेड़ी से बंधे हों तो संसार में अपराधी माने जाते हैं वैसे ही हम इच्छा की बेड़ी में जकड़े हुए है आध्यात्मिक अपराधी हैं। और चाहते हुए भी मुक्त नहीं हो पा रहे हैं। ऊपर से ये बधन दिखते नहीं हैं, पर ये बहुत संगीन होते हैं, बहुत बारीक होते हैं। जो बारीक होते हैं उनमें ताकत ज्यादा होती है। आज विज्ञान परमाणु में ताकत मानता है। हमारे यहां भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया गया है। औदारिक वर्गणा से वैक्रिय सूक्ष्म होती है, पर वह विशेष ताकतवर होती है। औदारिक से वैक्रिय और आगे-आगे की वर्गणाएं क्रम से सूक्ष्मतर होती जाती हैं। कार्मण वर्गणा और सूक्ष्म होती है, पर उसमें ताकत ज्यादा होती है। वह आत्मा से संयोजित हो कर कैसे-कैसे करतब दिखा देती है, इस पर आश्चर्य होता है। केवल जड़ को नहीं, पर चेतना को भी कहीं-से-कहीं पटकने की ताकत उसमें आ जाती है। इच्छाएं

इतनी बारीक होती हैं कि उपर से हम उन्हें देख नहीं पाते पर व संगीन बन्धन होती हैं जिनसे हम अपने-आप को सहसा मुक्त भी कर नहीं सकते।

बंधुओ! मानव-भव में यह अवसर मिला है इसलिये हम वीतराग वाणी में आस्था रखकर तथा उसका अनुसरण करते हुए उन बेड़ियों को तोड़ने के लिए तत्पर बनें। कई बार हम जान लेते हैं पर पुरुषार्थ नहीं बनता है तो जग कर भी सोये के सोये रह जाते हैं। शरीर से सोये रहें तो कोई बात नहीं, विवेक का साया रह जाना घातक होता है। आज का युवा वर्ग चाहे १० बजे तक सोता रहे, कोई बात नहीं क्योंकि वह तो केवल शरीर से सोया रहता है। शरीर से सोना जितना घातक नहीं, उतना घातक है विवेक से सो जाना। यदि विवेक सो गया तो पहले तो यह देखें कि वह जगा कि नहीं जगा? पहले यह छंटनी करने की ताकत भी आई या नहीं? आज मनोविज्ञान मानता है कि प्रत्येक व्यक्ति के पास एक ऐसा रिजनिंग माइंड या तर्कशील मस्तिष्क होता है जो छंटनी करता है। वह सक्रिय हो जाये तो हेय-ज्ञेय का बोध करा सकता है कि कौन-सा पदार्थ छोड़ने योग्य है और कौन-सा ग्रहण करने योग्य है। वह मस्तिष्क कहे कि ग्रहण योग्य नहीं तो उसका ग्रहण नहीं हो सकता। इसलिए जीव के स्वरूप को जानना, होगा साथ ही अजीव के स्वरूप को भी जानना होगा।

जी जीवे वि ण यागइ, अजीवे वि ण याणइ।
जीवाजीवे अयाणंतो, कहं सो णाहिइ उ संजमं॥

जो जीव को नहीं जानता, वह अजीव को नहीं जानता, और जो जीव-अजीव को नहीं जानता, वह संयम को क्या जानेगा? ऐसा व्यक्ति मोक्ष का निर्णय कैसे करेगा? जीव को केवल जाना जाता है। उसका ग्रहण या छोड़ना नहीं होता। यह तत्त्व जानने योग्य हैं।

यह भी कहा गया है 'जाणियव्वा ण मसायरियव्वा', जानना है, पर आचरण नहीं करना है। अब देखिये, १८ पापस्थान शास्त्र में आये हैं, उन्हें जानना तो है, पर क्या उनका आचरण भी करना है? यहीं विवेक प्रज्ञा की बात आती है। यदि विवेक प्रज्ञा या रीजनिंग माइन्ड जाग्रत् न हो तो हमारी सारी व्यवस्था ऐसी स्थिति में आ जायेगी कि हम निर्णय नहीं कर पायेंगे। शरीर सोये तो कोई वात नहीं, पर आत्मा नहीं सोनी चाहिये। परन्तु आत्मा यदि निरन्तर इच्छा से युक्त रहेगी तो फिर उसे थकान आएगी तव उसे सुषुप्ति आ जायेगी। एक व्यक्ति पर यदि लगातार तनाव का वोझ रहे तो उसे जीवन बुझा-वुझा-सा

लगेगा। वह लाशवत् जी रहा होगा। क्योंकि जब मस्तिष्क में तनाव भरा होगा तो शिथिलता आयेगी। वैसे ही इच्छा को भार यदि आत्मा पर होता है तो आत्मा शिथिल हो जाती है। ज्यादा तनाव होता है तो हवा के छोटे झोंके में नींद आ जाती है, वैसे ही आत्मा को थकान आएगी, सोयगा, तो वह भार नहीं लगेगा। पर कब तक सुलाये रखोगे? अनंतकाल निकाल दिया सोने में, अभी भी सोने में लगे रहोगे तो जागरण कब होगा? आपको संत सुना रहे हैं- उठिये, जागिये।

उठो! नर नारियो जागो, जगाने संत आये हैं......।

जयपुर वाले कहते हैं, जल्दी क्या है अभी तो सावन का महीना है। ऐसा सोचेंगे तो कब जगेंगे। अभी तो चातुर्मास लगा ही है। २० दिन निकल गये, क्या देर लगती है निकलने में? २० दिन निकल गये तो पीछे क्या रहेगा? धीरे-धीरे घटना ही है। जागिये! अभी तो पर्युषण बाकी हैं, वे भी दौड़े आ रहे हैं। देखते ही देखते रहोगे तो वे भी निकल जायेंगे। आंखों के सामने से बहुत-कुछ निकला है। जो है वो भी निकल जायेगा। क्या-क्या नहीं गंवाया है!

जा-जा वच्चइ रयणी, ण सा पडिनियतई......।

जो-जो रात्रियां बीत रही है वे लौट कर आने वाली नहीं हैं। तीर्थंकर देवों का उपदेश कितना गंभीर है। जो-जो रात्रियां निकल गई उन्हें ले आयेंगे क्या? करोड़ों-अरबों-खरबों खर्च कर दो, वें लौटेंगी नहीं। हाथ से निकला तीर, मुंह से निकला शब्द वापस नहीं आता। वैसे ही जो समय बरबाद कर दिया वह लौटकर नहीं आ पाएगा। यदि उसे बर्वाद कर दिया तो वह आत्मा पर कालिख पोत देगा। जरा पलट कर देखिये, हालात क्या हैं। हम आगे वृत्ति कर रहे हैं, पर पीछे हालात क्या हैं? इसीलिए प्रतिक्रमण सूत्र है। रोज पीछे मुड़ कर देखना है। रोज चल रहे हो, पर चलना सार्थक हो रहा है या नहीं? नहीं तो हाथ-पैर पटके, पर पटकना सार्थक नहीं हुआ। एक व्यक्ति इधर-उधर घूमता रहता है, टिक कर नहीं बैठता, पूछ लें, कितनी मंजिल तय की? वह भले रामनिवास दरवाजे के भी ५० चक्कर लगा ले, पर मंजिल नहीं मिलेगी। यही हाल हमारा है। उसके लिये तो कहेंगे कि गोते खा रहा है, पर हमने कितने खाये, यह भी क्या देखा? लगता ही नहीं कि गोते खा रहे हैं।यही तो विडम्बना है। यही सुषुप्ति है। जिसे बस इतनी जानकारी हो जाये कि वह गोते खा रहा है तो उसका जागरण हो जाय। फिर देखिये, इच्छा उस रफ्तार से नहीं दौड़ेगी, वह शांत हो जायेगी। वह शांत हो गई फिर देखिये कितनी शांति मिलती है। वहीं संयम में

गति होगी। वैज्ञानिक जिसे रीजनिंग माइन्ड से पकड़ते हैं, पर उसे हम नहीं पकड़ पाते हैं और मन में चाह रहती है- मेरी इच्छा की पूर्ति होगी क्या? जब तक ये खेल चलते रहते हैं तब तक आत्मा को जो लाभ मिलना चाहिये वह मिल नहीं पाता है।

ऐसा भी हो सकता है कि जागरण हो जाय, विवेक प्रज्ञा जाग्रत हो जाय परन्तु सुषुप्ति की स्थिति से पूरी तरह मुक्ति न मिली हो। तन्द्रा की ऐसी अवस्था में भटकने की स्थिति बन जाती है। कर्मों का प्रवाह ऐसी स्थिति पैदा कर सकता है इसलिये मनोबल बनाये रखना आवश्यक है। संयम का जहां दृढ़ आधार होता है वहां ऊहापोह की स्थिति नहीं बनती। प्रजापति, अश्वग्रीव, त्रिपृष्ट और अचल से संबंधित आख्यान से आप परिचित हैं। सम्राट् अश्वग्रीव के आदेश की अनुपालना में त्रिपृष्ठ और अचल ने जो कदम उठाये, उन्हें वे दृढ़ मनोबल के कारण ही सफलता तक पहुंवा सके। वे इच्छाओं से रहित, कर्तव्य करने की भावना से प्रेरित तथा धर्मबुद्धि से संचालित थे, तभी निर्भय होकर उन्होंने सिंह को उसी की गुफा में चुनौती दे डाली। यह प्रज्ञा-जागृति की अवस्था थी जो स्वीकार किये गये दायित्व को पूर्णता तक पहुंचाती है। सिंह की सबसे बड़ी दुर्बलता ही यह थी कि वह अंह में अंधा हो रहा था। लगातार मिलने वाली सफलताएं विवेक को कुण्ठित कर देती हैं। सिंह के साथ भी कुछ ऐसा ही था। अचल की जागृत प्रज्ञा के सम्मुख इस कुण्ठा की पराजय होनी ही थी। इस स्थिति की परिणति पर दृष्टिपात करें।

सिंह गुफा में सो रहा था। अचल ने कहा- इसे जगाना पड़ेगा। त्रिपृष्ठ आगे बढ़े। सिंह के समीप रथ ले जाकर उसे ललकारा। ललकार सुनकर सिंह भी जंभाई लेकर उठा। क्रोध से वह तमतमा उठा। अरे! मेरी ओर कोई आंख उठा कर भी नहीं देख सकता और ये छोकरे मेरी नींद में खलल ड़ाल रहे हैं! उसने भीषण गर्जना की तो मानो पूरा पहाड़ हिलने लगा, भूमि प्रकंपित हो गई। उसकी आंखें जलते हुए दीपक की तरह थी और दांत तीखे-तीखे, मानो भाला लिये खड़ा हो। नख चिपियें की तरह, जैसे चिपिंये से कुछ पकड़ने के लिए तत्पर। भूखे सर्प की भांति पूंछ दोलायमान हो रही थी। ऐसा भयावह रूप कि कमजोर दिल वाला आदमी देख ले तो छाती फट जाय और वह धम्म से नीचे गिर जाय। किन्तु वे दोनो कुमार फौलादी थे, सामान्य व्यक्ति नहीं थे। अचल वलदेव थे और त्रिपृष्ठ वासुदेव। डरना तो सीखा ही नहीं था। निर्भयता से वढ़

रहे थे। देखा, सिंह अंगड़ाई ले रहा था। पूंछ को उसने जमीन पर जोर से फटकारा तो वहुत-से पक्षी उड़कर भागे। पशु भागे और स्थान ढूंढने लगे। लोग सोचने लगे कि ये भूचाल कहां से आ गया! सारा वन-प्रान्तर सिंह के गर्जन से गूंज उठा। सैनिक तटस्थ भाव से देख रहे थे। अचल ने देखा, कहीं हमला न कर दे! वे स्थान से हिले और रथ से उतरने की तैयारी करने लगे। त्रिपृष्ठ ने कहा- भैया! आप यह क्या कर रहे हो? यह खेल तो मुझे खेलने दो। मैं आपकी गोद में खेला हूं, इसलिए इस खिलौने से मुझे ही खेलने दें। वे रथ से उतरने की तैयारी करने लगे। हाथ में शस्त्र था, पर मन में विचार आया कि शेर निहत्था है, अतः मुझे भी निहत्था होना है।

त्रिपृष्ठ अस्त्र-शस्त्र छोड़कर नीचे उतरे और हुंकार भरी। उनकी हुंकार से गुफा ऐसी गूंजी कि सिंह भी सकपका गया और सोचने लगा कि क्यों न आकाश में छलांग लगाकर दबोच लूं! उसने छलाग लगाई और मुंह फाड़े झपटा, पर त्रिपृष्ठ तैयार थे। उन्होंने ऊपर आते हुए सिंह के खुले हुए जवड़े पकड़ लिये और जैसे हाथों से आप कपड़ा फाड़ देते हैं, वेसे ही उसे फाड़ दिया। देखते ही देखते न हुंकार रही, न गर्जना। सैनिक प्रमोद से देख रहे थे। आकाश में भ्रमण करने वाले विद्याधर व इधर-उधर डोलने वाले देव यह देख कर थोड़ी देर के लिये स्तंभित रह गये। वे समझ गये कि ये आने वाले समय में वासुदेव वनेंगे। उन्होंने पुष्पवृष्टि की। विजय का उल्लास पर्व मनाया और आकाश को जय-जयकार से गुंजा दिया। इधर वनराज तड़प रहे थे कि यह क्या हो गया? वड़े-वड़े वलशाली मेरे सामने टिक नहीं सके पर इन छोकरों के हाथों मेरी मौत हो रही है। यह मेरे लिए असहनीय है। यदि मैं वीर योद्धा द्वारा मारा जाता तो कोई वात नहीं थी, पर ये तो अभी यौवन की दहलीज पर ही पहुंचे हैं। उसके मन में आत्म-ग्लानि हो रही थी। कहते हैं, ऐसी स्थिति वनती है तो प्राण अटके रह जाते हैं।

तव सारथी पहुंचा और कहने लगा- वनराज! शोक क्यों कर रहे हो? क्यों तड़प रहे हो? आपको ऐसा लग रहा है कि आप वच्चों के हाथों मारे गये, पर यह चिन्ता छोड़िये। जैसे आप वन के सम्राट् हैं वैसे ही ये भी सामान्य पुरुष नहीं, पुरुषों में सिंह हैं, इस काल के प्रथम वासुदेव हैं। भावी वासुदेव के कर से आपकी यह अवस्था वनी है, आप भाग्यशाली हैं, इसलिए चिन्ता छोड़िये और निर्वेद को प्राप्त कीजिये। इन मधुर वचनों को सुन कर सिंह शनैः-शनैः शांत हो

गया। उसे शांति मिल गई कि वह सामान्य व्यक्ति के हाथों नहीं मारा गया था। कोई वीर, सामान्य व्यक्ति के हाथों मारा जाता है तो उसे गम होता है, पर सारथी के वचन सुन कर सिंह की आत्मा को शांति मिल गई और वह निष्चेष्ट हो गया। थोड़ी देर बाद वासुदेव ने उसकी चमड़ी उतरवाई और कहा कि इसे अश्वग्रीव के सामने ले जाकर जोर से पटकना और कहना कि सिंह का वध हो गया है।

कथा की यह परिणति एक सत्य की ओर संकेत करती है। हर्ष, विषाद, क्रोध आदि मनोवेग इच्छाओं की प्रकृति का परिचय कराते है। इच्छाएं चाहे पूरी हों, चाहे अधूरी रह जायं, वे एक अनुभव छोड़ जाती हैं और दोनों ही स्थितियों में व्यक्ति को अशान्त बनाये रखती हैं इसलिये उनका निरोध आवश्यक है। यह तप द्वारा ही संभव है। कहा भी जाता है- 'इच्छा निरोहो तवो'। तप से तो संचित कर्म भी नष्ट हो जाते हैं, ऐसा भगवान् ने कहा है - "तवेणं वादाणं जणयई' और "**भव कोड़ी संचियं कम्मं तवसा निज्जरज्जई** (उत्तराध्ययन सूत्र३०/६)। तप धर्म से संबधित है। दशवैकालिक सूत्र के अनुसार- '**धम्मो मंगल मुकिट्ठं अहिंसा संजमो तवो, देवावि तं नमंसंति जस्स धम्मे सयामणो।** जिसमें अहिंसा, संयम और तप हो उसे देवता भी नमस्कार करते हैं।

धर्म के इस रूप को हम समझें, उस पर श्रद्धा करें और संयम तथा तप के मार्ग का अनुसरण करें। इच्छाओं का नियंत्रण करने में और उन पर अंकुश लगाने में इस प्रकार की चर्या हमारी मदद् करेगी, हम यह समझें और तदनुसार आचरण करें, हमारा निश्चय ही कल्याण होगा।

❑❑

धर्मश्रद्धा और आत्मकल्याण

अभिनंदन जिन दरसन तरसिये.........।

अंधे व्यक्ति से यदि कोई प्रश्न करे कि सूरदासजी! बतलाइये, अभी दिन है या रात? अभी आकाश में सूर्य चमक रहा है या आकाश में चन्द्र अपनी चांदनी बिखेर रहा है? तो सूरदासजी के लिए बता पाना कठिन होगा कि अभी सूर्य आकाश में चमक रहा है या चन्द्र का उदय हुआ है। क्योंकि नेत्रों में ज्योति नहीं है। जब नेत्रों में ज्योति नहीं होती तो दुनिया के पदार्थों को देखा नहीं जा सकता। आंखें नहीं भी हों, किन्तु यदि आत्मज्ञान प्रकट हो जाय, विशिष्टि ज्ञान प्रकट हो जाय तो कोई असुविधा नहीं होती। तब सूर्य का उदय हुआ है या चन्द्र का उदय हुआ है यह बताया जा सकता है। इसे अन्दर के नेत्र खुलना भी कहते हैं। यदि वे खुल जायं तो केवल आज की बात नहीं, किन्तु भूतकाल का विषय भी प्रकट किया जा सकता है। यहीं नहीं, जो विषय काल के गर्त में पड़ा है, उसे भी विशिष्ट ज्ञान द्वारा प्रकट किया जा सकता है।

तीर्थंकर देव जन्म लेते हैं, परिवार में रहते हैं, फिर साधु जीवन स्वीकार करते हैं। साधना में चलते हुए जब वे उस विशिष्ट ज्ञान को प्रकट कर लेते हैं तब वे उपदेश देते हैं। भगवान् महावीर ने लगभग १२.१/२ वर्ष मौन विचरण किया और जब केवलज्ञान-केवलदर्शन की ज्योति प्रकट हो गई तब उनसे कोई विषय छिपा हुआ नहीं रह पाया। हमारे पास आंखें रहते हुए भी दीवारे के पीछे क्या हो रहा है-यह हम जान नहीं पाते हैं, किन्तु उस ज्ञान, ज्योति से, ज्ञान-नेत्र से उस संबंध में भी बहुत अच्छी तरह से जाना जा सकता है। केवलज्ञान के प्रकट होने पर तीर्थंकर देवों ने देशना दी। उनके लिए फिर कहीं अंधकार नहीं होता। चाहे दुनिया में कितना ही अंधकार हो, पर उनका ज्ञान सर्वत्र देख सकता है। सब-कुछ देख लेता है। उसी ज्ञान के आलोक में तीर्थंकर देवों ने तथा प्रभु महावीर ने जगत् के प्राणियों को देखा, उनकी भीतर की अवस्था को देखा और

करुणा का वर्षण किया। प्रभु महावीर ने यह भी देखा कि धर्म में जीवन जीने वाले व्यक्तियों के साथ धर्म के भ्रम में जीने वाले भी बहुत हैं। उन्होंने देखा कि कई लोग धर्म को समझ कर जी रहे हैं, पर कई धर्म के भ्रम में हैं, वे यथार्थ में धर्म का दर्शन नहीं कर पाये हैं। ऐसे व्यक्ति भी हैं जो धर्म के इर्द-गिर्द चक्कर तो लगाते हैं पर वे धर्म का स्वाद नहीं ले पाते हैं। शब्दों में धर्म को व्याख्यायित करना बहुत सरल है, पर शब्द रसहीन हुआ करते हैं। शब्दों में चाहे कितने ही सरल भावों को व्यक्त किया जाय, किन्तु यदि हमारी अनुभूति नहीं है तो शब्द हमें रस नहीं दे पाएंगे। किन्तु जब उसकी अनुभूति हमारे साथ जुड़ जायेगी तब तो वे शब्द हमें बहुत महत्त्वपूर्ण और अर्थपूर्ण लगेंगे। शब्द अपने-आप में महत्त्वपूर्ण नहीं होते। उनका महत्त्व तब होता है जब वे कुछ कहने का माध्यम बनते हैं। जब हम कुछ कहना चाहते हैं, किसी विषय पर बात करना चाहते हैं, तब शब्दों की भूमिका भी शुरू हो जाती है। शब्दं विषय की प्रस्तुति का माध्यम ही नहीं बनते, उसकी प्रकृति भी तय करते हैं। विषय की सरलता, किलष्टता, उसकी रोचकता अथवा सरसता शब्द ही निर्धारित करते है। जो विषय आपके सामने आता है, यदि वह परिचित या अनुकूल होता है तो वह आपको सरस लगता है और नहीं तो आप ऊबते हैं और आपको ऊंघ भी आने लगती है। 'कषाय' और 'विषय' हमारे बहुत परिचित हैं। इसलिए कषाय में प्रवृत्त होने में हमें अधिक पुरुषार्थ नहीं करना पड़ता। क्रोध-अंहकार किधर से आ जाता है, हमें ज्ञात ही नहीं हो पाता और हम क्रोध या अंहकार में प्रवेश कर जाते हैं। गर्दन अहं से तन जाती है। उसमें नींद नहीं आती, किन्तु धर्म, यह विषय हमारे लिए किलष्ट है। हालांकि धर्म आत्मा का निजी विषय है, वह आत्मा का स्वभाव है, फिर भी हमने उसका अनुभव नहीं किया है। हमारी अनुभूति विषय-कषाय में जितनी रमती है, उतनी धर्म में नहीं। यही कारण है धर्म हमें रुचिकर नहीं लगता। जहां पांच इन्द्रियों का विषय राग-रंग सामने आता है तो तत्काल क्रिया-प्रतिक्रिया होती है, किन्तु धर्म की बात सामने आ जाय तो लगेगा, बहुत ऊंची घाटी पर चढाई करनी पड़ रही है। भगवान् महावीर ने अहिंसा, संयम और तप की त्रिपुटी को धर्म बताया है। केवल तप को धर्म नहीं कहा है, किन्तु जो तपस्या संयमपूर्वक है, जिस तपस्या में संवर की स्थिति बनती है और जो तपस्या हमें अहिंसा में प्रवेश कराने वाली है, वहीं त्रिपुटी धर्म का रूप होती है।

अहिंसा की परिभाषा करते हुए बताया गया है कि केवल जीव की रक्षा

करना या जीव को नहीं मारना ही, अहिंसा नहीं है, बल्कि हमारे भीतर रही जीवेषणा समाप्त होनी चाहिए। वह समाप्त होगी तभी वस्तुतः अहिंसा का स्वाद हम चख पाएंगे तभी हमें अहिंसा का स्वाद आ पायेगा।

संयम हमारी आत्मा को ताकत देने वाला गुण है। वैद्य और डाक्टर कमजोरी को दूर करने के लिये ताकत की दवा देते हैं वैसे ही संयम आत्मा को ताकत देने वाला है। इच्छाओं के कारण हमारी दशा जर्जरित हो जाती है। जहां निरन्तर इच्छाओं का पानी वहता रहता है अथवा जमा रहता है, वह भूमि बंजर हो जाती है, वैसे ही जैसे बड़े-बड़े बांधों का पानी जहां टिका रहता है, वह भूमि बंजर हो जाती है। निरन्तर इच्छा का पानी यदि आत्मभूमि पर से गुजरता रहे तो आत्मभूमि बंजर हो जाती है। फिर धर्म की फसल वहां पनप नहीं सकती। परिणामस्वरूप कषाय और विषय का वहां जमावड़ा हो जाया करता है। तव इच्छा का निरोध कर और संयम की खुराक लेकर आत्मा को वलवान बनाया जा सकता है। संयम से आत्मवल बढ़ता है किन्तु इसका अनुभव व्यक्ति जव तक स्वयं नहीं कर लेता तव तक वह इसकी महिमा को समझ नहीं पाता न उसे इस सत्य पर विश्वास ही हो पाता है। एक व्यक्ति औषध सेवन करता है और उसे लगता है कि उससे शरीर में ताकत आ रही है, तो उसकी रुचि जाग्रत् हो जाती है और वह उसका नियमित रूप से सेवन करने के लिये तैयार हो जाता है। वैसे ही जव हमारे जीवन में संयम आता है तव हमारा 'विलपावर स्ट्रांग' हो जाता है। परन्तु मनुष्य केवल धर्म की पोशाक पहन कर न रहे। यदि पोशाक पहने रहता है तो वह मात्र धर्म के भ्रम में जी रहा होता है और ऐसी भ्रमना आज दुनिया में जितनी फैली हुई है कि उसमें सही तत्त्व को खोज पाना कठिन ही है। ऊपरी पोशाक जितनी सफेदी लिए होती है, जरूरी नहीं कि आत्मा भी उतनी सफेदी लिये हुए हो। धर्म विषय को सुनने में हम जितना रस दिखाते हैं, जरूरी नहीं कि आचरण में उतनी जिन्दादिली भी रहती हो। सुनने के शूरवीर बहुत हैं। वचनों के वीरों की कमी नहीं, पर धर्म में जीने वाले बहुत कम मिलेंगे। वस्तुतः धर्म में जीने वाले ही वीर हो सकते हैं। अन्यथा धर्म की वात आने पर व्यक्ति ऐसे भागता है जैसे सामने भूत आ हो गया धर्म को आज ऐसी ही चीज वना दिया गया है। संयम से यदि हमारी आत्मा वलवान नहीं वनी है तो परीषह-उपसर्ग के समय हम भागते हुए नजर आयेंगे। कामदेव श्रावक के सामने कैसी स्थिति आ गई थी? देवों ने कैसा रूप वताया था? किन्तु उसके वावजूद उसके दिल में प्रकंपन नहीं आया।

महाराजा हरिश्चन्द्र का सत्य के प्रति इतना अनुराग बना कि सत्य के सामने राज्य का त्याग करना तक उन्होंने मंजूर किया। राज्य-त्याग को महत्व नहीं दिया, सत्य-त्याग को महत्त्व दिया। तन जाये तो जाये, मेरा सत्यधर्म नहीं जाये....। तन चला जाये पर सत्यधर्म नहीं जाना चाहिये।

चंद टरै, सूरज टरै, टरै जगत् व्यवहार।
पै दृढ़व्रत हरिचंद को टरै न सत्य विचार॥

ऐसा था उनका सत्य-पालन का प्रण। जब धर्म का जीवन में आचरण होने लगता है, जब संयम जीवन में खिल जाता है या अंकुरित हो जाता है, तब उसमें ताकत आ जाती है। ऐसा व्यक्ति घबराता नहीं है। संकटमय मार्ग में भी वह गतिशील होता रहता है। हरिश्चन्द्र के सामने भी कैसे-कैसे प्रसंग आये? राज्य दे दिया, दक्षिणा के लिए धन चाहिये था तो बाजार मे बिकने को तैयार हो गये। किसके यहां बिके? चांडाल के यहां। इतने में ही परीक्षा पूर्ण नहीं हुई। पत्नी तारा, जिसे ब्राह्मण ने खरीदा था, उसने कहा- मैं रोहिताश्व को नहीं रखूगा। इसे नहीं खिलाएगी। जब तारा ने बार-बार अनुनय की, तब ब्राह्मण का दिल पसीजा। किन्तु अभी भी देव परीक्षा लेना चाहते थे, रोहित को काले सर्प ने डस लिया। अंधेरी रात में तारा रोहित का शव लेकर श्मशान घाट पहुंची और पति से कहा- पतिदेव! यह रोहित अब जिन्दा नहीं रहा। इसका दाह-संस्कार करना है, किन्तु उस समय भी हरिश्चंद्र ने कहा कि पहले यहां का टैक्स चुकाना पड़ेगा। इसीलिए कहा है- तन जाए तो जाए, मेरा सत्यधर्म नहीं जाये...। मेरा धर्म नहीं जाना चाहिये। बात है धर्म की, धर्म पर श्रद्धा की। धर्मश्रद्धा में कोई समझौता नहीं होता इसीलिये उसका फल मिलता है। तभी पूछा गया-

''धम्मद्धाए णं भंते! जीवे किं जणयइ''

धर्मश्रद्धा से कौनसा फल मिलता है? पहले ये बता दीजिये कि व्यक्ति में धर्म की श्रद्धा हो तो वह क्या प्राप्त नहीं कर लेता है। एक नहीं, अनेक आख्यान हैं। इतिहास भरा पड़ा है कि धर्म के आधार पर श्रद्धा से आत्मा ने किस-किस प्रकार से अपना कल्याण किया। सेठ सुदर्शन का नाम तो आपने सुना ही है। इस तरह के अनेक आख्यान अंकित हैं। वर्तमान समय में भी ऐसी घटनाएं घट सकती है बशर्ते धर्म के प्रति हमारा अनुराग हो। यह अनुराग कैसे होना चाहिए? वह पानी की तरह गीला नहीं हो। कपड़ा पानी से गीला होता है।

धूप-गर्मी में सूख जाता है, पर यदि वस्त्र घी से चिकना हो तो क्या वह धूप में सूख पाएगा? क्या हवा उसे शुष्क वना सकेगी? जैसे घी की स्निग्धता समाप्त नहीं होती, वैसे ही धर्म के लिए भी वताया गया है।

"अट्ठिमिज्जागए", वह धर्म केवल ऊपर न रहे, वल्कि शरीर में जो महत्त्वपूर्ण तत्त्व है- मज्जा, जिसके कारण अवयवों में हलन-चलन रहती है, उस मज्जा तक धर्म का अनुराग पहुंच जाना चाहिए, फिर मुंह से निकलेगा-

'जीवु छे तो धर्म ना काजे, मरवू छे तो धर्म ना काजे।'

जीना है तो अधर्म के लिए नहीं, धर्म के लिए। धर्म के लिए शरीर जा रहा है तो जाये, कोई दुःख नहीं। धर्म रहता है और शरीर जाये तो मंजूर है। महासती राजमती रथनेमि से कहती है-

धिरत्थु तेऽजसो कामी, जो तं जीवियकारणा,
वंतं इच्छसि आवेउं, सेयंते मरणं भवे॥

हे अपशय के कामी! अपशयमय जीवन जीने से तो तेरा मरना श्रेयस्कर है। अधर्ममय जीने के वजाय, मरण कहीं ज्यादा हितकर है। भला अधर्म के लिए तुम्हारे मन में भाव कैसे जग गये? यह वात होती है जहां धर्मश्रद्धा मजवूत हो, गहरी हो। वह गहरी नहीं है तो हवा का एक झोंका आया नहीं कि क्या स्थिति बनेगी? हवा के एक झोंके से धर्मश्रद्धा का रंग उड़ जाएगा, जैसे श्मशानिया वैराग्य जो एक क्षण तो आता है कि अरे! यह समय तो सवका आना है! क्या पड़ा है संसार में? किन्तु जैसे ही श्मशान से निकले कि वैराग्य हवा में उड़ जाता है। वैसा ही यदि धर्म का केवल रंग लगा है तो वह जीवन में आनंद देने वाला नहीं वनेगा। धर्म की श्रद्धा कैसी होनी चाहिए? वस्त्र की भांति नहीं, किन्तु रग-रग में दौड़ने वाले खून की भांति। यदि एक वस्त्र पहना है और वदलना है तो उतार कर दूसरा और दूसरे से तीसरा पहन लेंगे, पर धर्मश्रद्धा वैसी नहीं कि एक वार ओढ़ ली, दूसरे क्षेत्र में गये तो उतार कर खूंटी पर टांग दी। धर्मश्रद्धा खून की तरह होती है। जैसे खून शरीर से अलग नहीं होता किन्तु वह जव तक रगों में दौड़ता है तभी तक जीवन टिक पाता है, वैसे ही धर्म जीवन में दौड़ना चाहिए। एक-एक कतरे के साथ धर्म की श्रद्धा दृढ़ीभूत होनी चाहिए। यदि उस प्रकार की धर्मश्रद्धा जीवन में आती है, तो देखिये क्या परिणाम आता है! आज परिणाम नहीं आता है। हम व्याख्यान सुनते हैं तभी तक टिकता है, पर जल्दी ही हम में रूपान्तरण हो जाता है इसलिये वह लाभ उठा नहीं पाते जो

उठाना चाहते हैं। "धम्मसद्धाएणं भंते! जीवे किं जणयइ"। तो कहा गया- "सायासोक्खेसु रज्जमाणे विरज्जइ"। कितनी महत्त्वपूर्ण बात बताई है साता-सुख से विरक्ति, यह नहीं कहा कि साता-सुख नहीं मिलता। धर्मश्रद्धा करने वाले को साता-सुख मिलता है, पर वह उससे निर्लिप्त रहकर चलता है। यह हमारे जीवन की पहचान होनी चाहिए। यदि धर्मश्रद्धा जीवन में आई है तो उसे नापने का बैरोमीटर यह है कि देखें संसार के पदार्थों के प्रति विरक्ति का दबाव कितना है! यदि विरक्ति का भाव नहीं है, संसार के पदार्थों में मशगूल हैं, तो समझ लीजिये कि वह केवल धर्म का भ्रम है, धर्म का सही आचरण नहीं हो रहा है। इस स्थिति को आप अश्वग्रीव से संबंधित कथा से समझें।

अश्वग्रीव प्रतिवासुदेव थे, पर वे नैतिक धरातल पर दृढ़ नहीं रह पाये। तीन खंड का आधिपत्य था उनका। कितने ही सम्राट् उनकी आज्ञा शिरोधार्य करते थे। पर धर्माचरण के पथ से वे च्युत हो गये। 'जो मेरा है सो मेरा है ही, तेरा भी मेरा है, ऐसा जिसका चिन्तन बन जाय, वह धर्मानुसार शासन कैसे कर सकता है? रावण की ऐसी ही नीति थी। उसकी मान्यता थी कि जितने भी रत्न वसुन्धरा पर होते हैं, उनके उपभोग का अधिकार सम्राट् को ही होता है। शक्ति और सामर्थ्य का यह दुरुपयोग है। यह तो 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' वाला सिद्धान्त हुआ। यदि अश्वग्रीव न्याय-नीति से चलते तो शायद उनके राज्य का अंत नहीं आता, किन्तु नियति को यह मंजूर नहीं था। प्रतिवासुदेव अपने जीवन के अंतिम वर्षों में आततायी बन गये और अपने प्रत्येक कार्य को धर्म और नीति का रूप देने का प्रयत्न करने लगे। जब उनके सामने शेर की खाल पहुंची तभी उन्हें समझ लेना चाहिये था, पर वे संभले नहीं। उनमें आक्रोश जाग गया जिसने आग में घी का काम किया। आक्रोश का एक कारण और बन गया अनिंद्य सुंदरी स्वयंप्रभा का त्रिपृष्ठ से सम्बन्ध तय होना। घटना की पृष्ठभूमि पर दृष्टिपात करें।

विद्याधर राजा ज्वलनगति की भार्या वायुवेग ने सूर्य का स्वप्न देखा और पुत्र को जन्म दिया। सूर्य का एक नाम अर्क भी है इसलिए उसका नाम अर्ककीर्ति रखा गया। कालान्तर में इन्हीं वायुवेग महारानी ने एक और स्वप्न देखा- सर्वदिशाओं को चन्द्र की दिव्य प्रभा आलोकित कर रही थी। उसके बाद उन्होंने

एक पुत्री को जन्म दिया। पुत्री का नाम स्वयंप्रभा रखा गया। युवावस्था की प्राप्ति के साथ वह अनुपम रूप-लावण्य की स्वामिनी बन गई। यह कहा जाने लगा कि इसके समान दिव्य सुन्दरी इस धरा पर उपलब्ध होनी कठिन है। एक बार माता को विचार आया कि यह युवा वय को प्राप्त कर चुकी है, पर सम्राट् का अभी तक इस तरफ ध्यान ही नहीं गया है। अतः इसे सम्राट् के सामने प्रणाम करने भेजा जाये। सम्राट् ने जब उसे देखा तो उन्हें तुरन्त विचार आया- अहो! मेरी यह संतान जवानी की दहलीज पर चढ़ चुकी है। मुझे शीघ्र ही इसका विवाह कर देना चाहिये। इसी विचार के साथ वे मंत्रणा में तत्पर हो गये। मंत्रियों और राज्य के प्रमुख अधिकारियों के साथ उन्होंने मंत्रणा की। सभी का यह मत था कि जैसी रूप-गुणसम्पन्न यह संतान है, उसी के अनुरूप उसे वर मिले। प्रत्येक पिता अपनी लड़की की शादी के लिये श्रेष्ठतम वर की तलाश करता है। इसी प्रकार वर का पिता भी श्रेष्ठ कन्या चाहता है। यह बात अलग है कि आज वर या कन्या की श्रेष्ठता के बजाय ऊपरी चाक-चक्य और सम्पन्नता की ओर दृष्टि जाने लगी है। अलग-अलग व्यक्तियों के अलग-अलग दृष्टिकोण होते हैं। कोई सोचते हैं कि अधिकारी की लड़की के साथ संबंध हो जाय तो फिर किसी प्रकार की तकलीफ नहीं रहेगी। इसी प्रकार लड़कीवालों का भी कई बार स्वार्थ का भाव रहता है कि बड़े घर में शादी कर दो, किन्तु वहां जाने के बाद कैसी रहेगी- इससे उनका कोई ताल्लुक नहीं रहता। ज्वलनगति कन्या का हित ही चाहता था, इसीलिये वह मंत्रणा में संलग्न था।

अश्वग्रीव का नाम उछल कर सामने आया। जब यह प्रस्ताव आया तो राजा ने कहा कि अब तो वह बूढ़ा शेर है। उसकी पुण्यवानी धीरे-धीरे क्षीण हो रही है। उससे संबध जोड़ना ठीक नहीं। दूसरे ने कहा- विद्याधर श्रेणी में बहुत-से राजकुमार हैं, उनसे संबंध कर दिया जाये। विद्युत्प्रभ का नाम भी सामने आया, पर निर्णय नहीं हो पाया। एक मंत्री ने कहा- स्वयंप्रभा सामान्य सुन्दरी नहीं है। उसकी शादी से पूर्व गहराई से सोचना होगा क्योंकि अनेक शक्तिशाली राजकुमार उससे विवाह के लिये उत्सुक हो सकते हैं। यदि वह एक को मिल गई, दूसरे को नहीं मिली, तो उपद्रव भी खड़ा हो सकता है। इसलिए मेरा प्रस्ताव स्वयंवर मंडप का है। कन्या स्वयं चयन कर ले। ऐसे समय में यदि आततायी

आक्रमण भी करेगा तो, स्वयंप्रभा जिस वीर का चयन करेगी, वह उससे निपट लेगा। सम्राट् ने कहा - मान लो वह ऐसा न वीर हो, तो वैसी स्थिति में क्या होगा? सभा निरुत्तर हो गई। अनिश्चय और अनिर्णय की स्थिति चलती रही। सम्राट् मानसिक रूप से बहुत अशांत थे। आप जानते हैं कि बेटी का दूसरा नाम ही चिन्ता है बेटी का जन्म होता है तो चिन्ता का भी जन्म होता है। बेटी जवान होती है तो चिन्ता भी जवान हो जाती है। वैसे देखें तो बेटी भी शरीर से जन्म लेती है और चिन्ता भी शरीर से जन्म लेती है परन्तु उसके साथ भेद-भाव होता है। बेटी को तो ससुराल भेज देते हैं, किन्तु चिन्ता को निज घर में रखते हैं। बेटी पराये घर का धन है और चिन्ता का पर्याय है। सम्राट् चिन्तामग्न थे। इतने में एक बात उनके ध्यान में आई कि संभित्त श्रोत नामक एक भविष्यवेत्ता है, वह सही आंकड़ों से सही भविष्य का कथन करता है। भविष्यवक्ता को तत्काल बुलवाया गया। उसे समुचित आदर-सत्कार देकर राजा ने पूछा- आपकी भविष्यवाणी निष्फल नहीं होती, मैं जानना चाहता हूं कि स्वयंप्रभा के लिए योग्य वर कौन हो सकता है? उसने पत्रा देखकर गणित की और बताया कि आप जानना ही चाहते हैं तो प्रजापति के पुत्र त्रिपृष्ठकुमार उपयुक्त वर रहेंगे और जैसे स्वयंप्रभा यौवन की दहलीज पर पहुंची है, वैसे ही वे भी युवावय को प्राप्त हुए हैं। उनकी पुण्यवानी भी जोर खा रही है। पूरे दक्षिण भारत में उनकी समानता का कोई अन्य नहीं है। आने वाले समय में वे वासुदेव भी बनेंगे और इस काल के प्रथम वासुदेव होने का गौरव प्राप्त करेगें। इसलिए यदि आप उत्तम वर चाहते हैं तो त्रिपृष्ठकुमार के साथ संबध जोड़ने का प्रयत्न करिये। ज्वलनगति ने चिन्तन कर दूत को प्रजापति के घर भेजा। प्रजापति ने भी सुन रखा था कि ज्वलनगति शक्तिशाली सम्राट् है और उसकी पुत्री अनिन्द्य सुन्दरी है, इसलिये उन्होंने तत्काल स्वीकृति दे दी। दूत से समाचार प्राप्त कर ज्वलनगति अत्यंत प्रमुदित हुआ। पर तभी उन्हें विचार आया कि अश्वग्रीव को यदि खवर लगी तो विकट स्थिति, वनेगी क्योंकि वह भोगी भ्रमर है। उसे ज्ञात हुआ तो वह युद्ध विना नहीं मानेगा। कैसे उससे वचने का उपाय किया जायं, क्योंकि अव वह धर्म-कर्म, नीति-अनीति की चिन्ता न कर निरंकुश व्यवहार करने लगा है और युद्ध की स्थिति वना देता है।

बंधुओ! ये कथाएं केवल कथा के रूप में न लें, इन पर चिन्तन करें। सुरा-सुन्दरी के पीछे कितना खून-खराबा होता है। कितनी बहिनों के माथे का सुहाग छिन जाता है, केवल अनिंद्य सुंदरी की प्राप्ति के लिये! इतिहास ऐसे आख्यानों से भरा पड़ा है। स्वर्णगुलिका दासी उदायन के पास थी। चंद्रप्रद्योतन को जानकारी हुई तो उसका अपहरण करा लिया, फिर उसके साथ युद्ध हुआ। एक कन्या के पीछे युद्ध! क्या यही है धर्मश्रद्धा का फल? यह साता-सुख से विरक्ति है या साता-सुख में रचने के भाव की पुष्टि? किन्तु धर्मश्रद्धा को जाने तब? प्रभु कहते हैं, धर्मश्रद्धा उसे प्राप्त होती है जिसमें आसक्ति के भाव न हों। जो निरासक्त भाव से संसार में जीता हो। हमें भी चिन्तन करने की आवश्यकता है क्योंकि मनुष्य-भव और उत्तम कुल प्राप्त हुआ है। यदि अपने-आप को अभी नहीं संभाला तो उद्धार की आशा धूमिल हो जायेगी।

सच्ची धर्मश्रद्धा जिसे प्राप्त होती है वह निस्पृह और निर्भीक बन जाता है। ऐसा व्यक्ति अपनी आलोचनाओं और विरोध की चिन्ता नहीं करता, बल्कि विरोध उसे अतिरिक्त शक्ति देकर उसकी श्रद्धा को दृढ़तर कर देता है। ज्योतिर्धर जवाहराचार्य के साथ ऐसा ही हुआ था। थली-प्रदेश में जब वे धर्म के नाम पर फैले भ्रम का विरोध करने के लिये धर्म की सटीक व्याख्या कर रहे थे तब कुछ लोगों का तीव्र विरोध भी उन्हें सहना पड़ा था। ऐसे लोग भी थे, जो कहने लगे थे- "क्या बातें करते हो? यदि मुंहपत्ति उतार लेंगे तो क्या करोगे?"

पू. आचार्यदेव किंचित् भी आवेश में नहीं आये। उन्होंने शांत रहते हुए संयत उत्तर दिया- चार अंगुल कपड़े से यदि मोहब्बत है तो ले लीजिये। हम दूसरी लगा लेंगे। परन्तु यदि कुछ छीनना ही है तो मेरे भीतर रहे हुए ज्ञान को लेने का प्रयत्न कीजिये, दर्शन को लेने का प्रयत्न कीजिये, उससे आपका जीवन बनेगा। इस कपड़े से क्या बनने वाला है? ऐसे क्षणों में शांत भाव बनाये रखना कितना कठिन होता है! परन्तु जवाहराचार्य ऐसा कर सके। भिक्षा के लिए पधारते तो लोग राख डाल देते। राख तो कोई बात नहीं, पर कुत्ते के पिल्ले पातरे में डाल देते-ले जाओ। गुरु के सामने पातरे खोले तो वहां स्वर्णकार भाई मौजूद था उसने उठाया, तो पूछा- तुम क्या करोगे? उसने कहा- पालन करेंगे। वे

धर्मश्रद्धा से हटे नहीं, डटे रहे। ऐसी होती है धर्मश्रद्धा जिसने उन्हें युगसंत, ज्योतिर्धर आचार्य बनाया। मैं यही कहूंगा कि जैसे पूर्वाचार्यों ने परीषह सहन किये, पर धर्मश्रद्धा पर दृढ़ रहे, वैसे ही हमें भी धर्मश्रद्धा पर अडिग रहना चाहिये, चाहे कैसे भी परीषह और उपसर्ग आये।

धर्मश्रद्धा से जीव सातावेदनीय कर्मजनित वैषयिक सुखों की आसक्ति से विरक्त हो जाता है, अगर धर्म का त्याग करता है, अनगार होकर छेदन-भेदन आदि शारीरिक तथा संयोग आदि मानसिक दुःखों का विनाश कर डालता है और अव्याबाध सुखों को प्राप्त करता है। इस मनुष्य-भव का इससे अधिक सार्थक उपयोग हो ही नहीं सकता। आप यह समझें और इसलिये धर्मश्रद्धा में प्रवृत हों, ऐसी मेरी कामना है।

❑❑

सुमति की प्राप्ति : साधना का लक्ष्य

सुमति चरण कज आत्म अर्पणा.........।

सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में आत्मा को अर्पित करने की भक्त की कामना रहती है। सुमति अर्थात् 'सुष्ठु सन्दराः मतिर्यस्य इति सुमति' जिसकी मति सुन्दर हो। जितना भी खेल संसार में चलता है, वह सब मति के आधार पर चलता है। व्यक्ति की मति जैसी होती है, रचना भी वैसी होती रहती है। वैज्ञानिकों ने जो आविष्कार किये उनके अपने उपयोग हैं। यदि मति सही है तो उसके आधार पर उनका सदुपयोग हो सकता है और यदि मति सही नहीं है तो वे आविष्कार, लाभ के बजाय नुकसान पहुंचा सकते हैं। बहुत ज्यादा नुकसान भी पहुंचा सकते हैं यदि उपयोग करने वाले की मति सुष्ठु नहीं है। विचार किजिये कि हम परमात्मा की पूजा किसलिए करते हैं? इसलिये कि हमारी मति सही रहे, उस पर हमारा नियंत्रण बना रहे। यदि वह हट जाता है तो कोई वस्तु, वह चाहे कितनी भी बढ़िया हो या सुन्दर हो, उसकी कोई विशेष उपयोगिता नहीं रह जायेगी। अनेक व्यक्ति, जो प्रारंभ में अच्छे पढ़ने-लिखने वाले होते है, पर यदि अति की स्थिति बनती है तो उनका मस्तिष्क व्यवस्थित नहीं रह पाता है। उस स्थिति में उसकी प्रखर मेधा भी लाभ नहीं पहुंचा पाती, बल्कि उनके लिए हानिकारक ही बन जाती है क्योंकि वे उसे अपेक्षित दिशा में नियोजित नहीं कर पाते हैं। तब वे उचित निर्णय भी नहीं ले पाते, सोचते रहते हैं पर निर्णायक कदम नहीं उठा पाते। जब तक निर्णय करने की क्षमता नहीं आती, तब तक व्यक्ति जीवन में उन्नति नहीं कर पाता। इसलिए निर्णायक बुद्धि या मति प्रखर होनी चाहिए। यदि किसी की निर्णायक क्षमता या मति अच्छी है तो वर्तमान में चाहे उसका विकास नहीं हो पा रहा हो, पर एक दिन वह निर्णायक शक्ति के आधार पर निर्णायक मोड़ पर खड़ा हो सकता है। नहीं तो क्या करूं, कैसे करूं, असमंजस की स्थिति में रह जाएगा।

अपने शास्त्र उठाकर देखिये, उनकी भाषा को पहचानिये। यदि पहचानेंगे तो आप स्वयं अनुभव करेंगे कि प्रभु महावीर की शैली कितनी सटीक है और उनके सिद्धान्त कितने महत्त्वपूर्ण हैं। उनके पास कोई भी व्यक्ति पहुंचता, उनकी वाणी सुनता और कहता- भगवन्! मैंने आपकी वाणी सुनी, अब मैं संसार छोड़ कर साधु बनना चाहता हूं। तब भगवान् का उत्तर कैसा होता था, मालूम है? भगवान् कहते थे-

''अहासुहं देवाणुप्पिया, मा पडिबधं करेह...।''

जैसा तुम्हें सुख हो, पर धर्मकार्य में प्रतिबंध नहीं करना। प्रतिबंध, यानी अंतराय नहीं खड़ी करना। बीच मे विघ्न नहीं आना चाहिये। शुभ कार्य में विघ्न तो नहीं आना चाहिये- यह तो ठीक है, किन्तु उन्होंने यह नहीं कहा कि तू करले। उन्होंने कहा- 'अहासुहं'- जैसा तुम्हें सुख हो। उनका भाव होता था- मैंने सारी चीजें बता दी हैं, किन्तु निर्णय तुम्हें करना है कि क्या लेना है, क्या करना है।

एक ग्राहक दुकान पर जाता है, ऐसी हालात सभी ग्राहकों की हाती है, दुकानदार अनेक प्रकार की वस्तुएं सामने बिखेर देता है। ग्राहक सोचता है- ये लूं, कि ये लूं? यदि वह निर्णय नहीं कर पाता है तो निर्णयक्षमता की कमी के कारण, जो माल खरीदना चाहिए वह खरीद नहीं पाता, बल्कि उलटी-पुलटी वस्तु ले आता है। निर्णायक क्षमता हो तो सही माल खरीदेगा। भगवान् ने यह उसके अधिकार के अन्तर्गत रखा कि निर्णय वह स्वयं करे। उनका अभिप्राय होता था कि मेरे कहने से नहीं, किन्तु अपनी आत्मा को कहने से, अर्थात् तुम्हारी आत्मा को लगे कि यह ठीक है, वह करो, तो वह बात मेरी नहीं, तुम्हारी हो जाएगी। मैंने कहा उसका तुमने अनुभव कर लिया। जो मैंने अनुभव किया वह तुमने अनुभव कर लिया, फिर भेद कहां रहा? कोई कहे नमक मीठा है, तो आप विश्वास करेंगे? यदि मैं भी कह दूं और विद्यार्थियों से टीचर कह दें तो क्या विद्यार्थी उस पर विश्वास करेंगे? नहीं करेंगे। क्या कारण है? टीचर गणित पढ़ाते हैं, उन पर विद्यार्थी विश्वास करते हैं, पर वह कह दें नमक मीठा है तो विद्यार्थी विश्वास नहीं करेंगे और यदि कहें कि मिश्री खारी है तो भी विश्वास नहीं करेंगे। क्यों नहीं करेंगे? क्योंकि उन्होंने मिश्री को खाकर देखा है, वह मीठी लगती है, खारी नहीं। इसलिए खारी कहने पर विश्वास नहीं होगा। हमने खाकर देखा है, नमक खारा होता है। यह बात अलग है कि गुजरात में नमक का नाम ही मीठू

कर दिया है, पर उसके स्वाद में खारापन ही होता है। नमक का नाम मीठा हो गया, पर खाने पर वह खारा ही लगेगा। किसी का नाम महावीर हो, पर वह बिल्ली को देखकर डरता हो। नाम महावीर होने से जरूरी नहीं कि काम भी महावीर का हो, नाम अलग होता है, काम अलग होता है। वैसे ही नमक का नाम मीठू रखने से वह मीठा नहीं हो जाता। जैस नमक के लिए मीठा कहने पर विश्वास नहीं करते, वैसे ही जो विषय हमारे अनुभव से गुजर चुका है, दूसरा उसके विपरीत कहे तो हमें उस पर विश्वास नहीं होता। जो विषय हमारी अनुभूति में जैसा है, दूसरी भी वैसी ही अनुभूति की बात कहे तो विश्वास हो जाएगा कि नहीं? मिश्री मीठी ही होती है, और नमक खारा ही होता है, यह तो मेरे अनुभव का कथन है। यदि वह कथन आपके अनुभव से विरोध नहीं रखता, बल्कि उससे मेल ही खाता है तो वह आपका अनुभव हो जायेगा। भगवान् महावीर उपदेश देते हैं और बताते हैं कि संसार के ये विषय-विकार वस्तुतः आत्मा को लाभ पहुंचाने वाले नहीं हैं। हम सोच लेते हैं कि हमें लाभ होगा, तृष्णा की पूर्ति होगी किन्तु विषय विकार से तृष्णा की पूर्ति कभी हुई है क्या? आग में ईंधन डालते चले जायं तो आग की भूख तृप्त होगी क्या? आग को पेट्रोल दिया जाता रहे तो आग और ज्यादा भड़केगी या बुझेगी? भड़केगी। बुझने का काम ही नहीं है क्योंकि पेट्रोल आग की खुराक है। खुराक दी जाती रहेगी तो वह बुझेगी नहीं। वैसे ही हम विषय-विकारों की खुराक देते जायं, पांचों इन्द्रियों के विषयों की पूर्ति के साधन उपस्थित करते जायें तो वासना को खुराक मिलती रहेगी और वह शांत नहीं होगी। उसे शांत करना है तो उससे विपरीत विचार, जिनसे वह शांत हो सके, वैसे भाव प्रवाहित करो तो वासना शांत हो सकती है, अन्यथा शांत नहीं हो सकती। विषय-वासनाओं अथवा विषय-विकारों को भड़कने वाले पदार्थ कौनसे हैं, उनकी पहिचान कर लेना आवश्यक है जिससे उनके सेवन से वचा जा सके और उनसे विपरीत प्रकृति के पदार्थों के सेवन में रुचि विकसित की जा सके। मति की निर्णायक क्षमता विकसित करने तथा उसे सुष्ठु वनाने की दृष्टि से यह आवश्यक है। मति-भ्रष्ट करने वाले पदार्थों की सवसे बड़ी विशेषता यह है कि उनका सेवन आकर्षक लगता है, उनके सेवन की लत या आदत वड़ी आसानी से लग जाती है, पर उनसे छुटकारा पा लेना अथवा उन्हें छोड़ पाना असंभव नहीं तो वहुत कठिन अवश्य होता है। इन्हें व्यसन की संज्ञा भी दी जाती है। इनसे वचने के लिये इनका स्पष्ट परिचय पा लेना आवश्यक है।

व्यसन अर्थात् विपरीत अशन। 'वि' उपसर्ग पूर्वक अशन। जो खाना-पीना विपरीत या विकार युक्त होता है उसे व्यसन कहा जाता है। एक व्यक्ति ने सहज रूप से चाय पी ली तो वह व्यसन नहीं है पर अगर विकार ग्रस्त हो गये, चाय के बिना यदि नहीं रह सकते, तो वह व्यसन हो गई। इसलिए जिस पदार्थ का सेवन हमारी आदत बन जाय जिसकी प्राप्ति के लिए हम कुछ भी करने के लिये तैयार रहते हो, और जिसके न मिलने पर चित्त विक्षिप्त हो जाता हो, या मूड बिखर जाता हो, किसी काम में मन नहीं लगता हो उस पदार्थ का सेवन व्यसन है, चाहे वह पदार्थ कुछ भी हो।

तम्बाकू शराब जैसी विकृत चीजों का सेवन व्यसन माना जाता है, क्योंकि एक बार यदि इनकी लत पड़ जाती है तो फिर व्यक्ति इन्हें सहसा छोड़ नहीं पाते। तम्बाकू पर एक रिसर्च से ज्ञात हुआ कि उसका सीधा असर दिल पर होता है। शराब का असर भी होते-होते होता है, शराब का उपयोग तो दवाओं में भी होता है। कई दवाओं में एल्कोहल का प्रयोग होता है, पर वहां उपचार का लक्ष्य होता है और वहां उसकी आदत भी नहीं पड़ती। परन्तु शराब पीने वाले व्यक्ति को शराब पीये बिना चैन नहीं मिलता। रोज शाम ठेके पर पहुंच ही जाते हैं और कहते हैं, लाओ शराब; यह व्यसन है। दुकान के सामने से निकल रहे हैं तो गुटखे या पान-मसाले के पाउच ले लेते हैं। थोड़ी देर न मिलें तो हालत खराब हो जाती है। इस प्रकार के व्यसन का जो आदी बनता है, वह जीवन को वरवादी के मोड़ पर ले जाकर खड़ा कर देता है। ऐसे व्यक्ति के लिये मति पर कण्ट्रोल रख पाना संभव नहीं रहता। निर्णायक क्षमता का कमांड यदि हमारे हाथ में रहे, तब तो हम जीवन को विकास की दिशा में ले जा सकते हैं, किन्तु यदि निर्णायक क्षमता हाथ से निकल गई फिर व्यसन चाहे तम्बाकू का हो, शराव का हो या और कोई हो हम वेवस हो जाते हैं। एक वार तो शरावी भी वोल देता है कि अव कल से नहीं पीऊंगा, किन्तु हालात क्या होते हैं? जैसे ही पीने का समय आता है तो कहीं सूचना करने की आवश्यकता नहीं, सहज ही पैर ठेके की ओर बढ़ जाते हैं। गाड़ी में जाता है, तो हाथ स्टियरिंग पर होते हैं पर गाड़ी न जाने कौन खींच रहा होता है। और गाड़ी ठेके पर जा पहुंचती है क्योंकि तव कमाण्ड करने की शक्ति अपने हाथ में नहीं होती है, व्यसन के हाथ में चली गई होती है। जिस वाहन का स्टियरिंग हाथ में नहीं, उसका क्या भरोसा, न जाने कहां ले जा कर पटक दे। किस समय क्या आफत आ जाय, पता नहीं।

कहा जाता है- पहली बार तैमूरलंग जब भारत में आया तब सवारी के लिये उसे हाथी पर बैठाया गया तो उसने पूछा- हाथी की लगाम कहां है? लोगों को हंसी आ गई। हाथी के लगाम होती है क्या? उसके लिए तो अंकुश होता है। नम्रतापूर्वक तैमूरलंग को बताया गया कि हाथी के लगाम नहीं होती। इसे तो महावत चलाता है । आवश्यकता होती है तो वह उसे अंकुश से वश में करता है। तैमूरलंग तुरन्त नीचे उतर गया, "हमें ऐसी सवारी नहीं करनी जिसकी लगाम हमारे हाथ में नहीं।"। कभी हमने सोचा भी कि हमारी जिन्दगी की लगाम किसके हाथ में है? हमारे हाथ में या तम्बाकू के हाथ में? डाक्टर कहते हैं, तम्बाकू का सेवन नहीं करना चाहिये, इससे भयंकर बीमारियां होती हैं। ऐसी-ऐसी बीमारियां, जिनका इलाज संभव नहीं, किन्तु फिर भी व्यक्ति तम्बाकू छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता। वर्तमान में शोध के जो परिणाम हमारे सामने आ रहे हैं, वे बड़े चौंकाने वाले हैं। एक शोध के अनुसार पान-मसालो का उपयोग सात पीढ़ियों तक चलता रहे तो आठवीं पीढ़ी का दर्शन दुर्लभ है अर्थात् उससे आगे वंश-परंपरा चलना संभव नहीं। ये बातें आज का विज्ञान तो आपके सामने स्पष्ट कर ही रहा है ऐलोपैथी चिकित्सा भी यही बता रही है, बहुत पुराने समय में ही हमारे महर्षि इन बातों को प्रकट कर गये थे। चरक संहिता में सुपारी का सेवन मनुष्य के लिए अहितकर बताया गया है। यदि निरन्तर सुपारी का सेवन किया जाय तो परिणाम घातक होता है। सेवन करने वाला नपुंसकता को प्राप्त हो जाता है। आज विज्ञान भी यही कहता है। पान-मसालों में सुपारी भी होती है। यदि कोई चाहे कि मुझे जल्दी मरना है तो उसके लिए पान-मसाले अहितकर नहीं हैं, क्योंकि उनमें पॉयजन मिलाया जा रहा है, स्लो पॉयजन। वह धीरे-धीरे जिन्दगी की रस्सी को काटता है। एक जहर ऐसा होता है जिसे पीया और जीवन-लीला समाप्त, किन्तु तम्बाकू का निकोटिन नामक जहर धीरे-धीरे जीवन लीलता है। वह जीवन देता नहीं है। जीवन को लीलता ही है। फिर भी उसे खाकर व्यक्ति बहुत प्रसन्न होता है। इसे क्या कहा जाय?

अमेरिका में लोग तम्बाकू के त्याग की प्रतिज्ञा लेने लगे हैं कि हमें सेवन नहीं करनी है। परन्तु इस नशीले पदार्थ का सेवन करने वाले भारतीय अभी भी सोये हुए हैं और सरकार तो इस ओर से पूर्णतः उदासीन है। अपराध क्यों बढ़ रहे हैं। हम लोग बोलते रहे हैं कि अपराध बढ़ने के मूल कारणों में नशीले पदार्थ भी है? आदत अपराध की नहीं है, किन्तु यदि व्यक्ति नशा करने

वाला हैं तो उसे बहकाकर या उसे प्रलोभन देकर आप उससे कुछ भी करा सकते हैं। व्यसन-सामग्री प्राप्त करने के लिये वह कुछ भी करने के लिये तैयार हो जायेगा।

जब मैं जावद में था तब वहां एक विधायक मेरे सम्मुख उपस्थित हुए। वे जाति से जाट थे। उन्होंने कहा कि मुझे जैन धर्म पर विश्वास है। फिर उन्होंने एक घटना प्रस्तुत की। उन्होंने कहा- एक बार भयंकर तूफान आया, मेरे दिमाग में एक बात आई कि मेरे कृषि फार्म में गन्ने खड़े हैं, और इस भयंकर तूफान में गन्ने गिर जायेंगे। गन्ने की स्थिति यह होती है एक बार गिर गये तो उनमें वह रस नहीं आ सकता। उन्होंने आगे बतांया- मैं नवकार मंत्र का जाप करने में तत्पर होगया। सुबह पहुंच कर देखा तो आस-पास के खेतों के गन्ने गिरे हुए थे, पर मेरे फार्म के गन्ने खड़े थे। उन्होंने तो अपनी बात अपने तरीके से कही थी, पर मैने कहा- विधायक महोदय! आपने जो बात कही कि गन्ना खड़ा रहता है तो उसमें रस की वृद्धि होती है, और एक बार गिर जाय तो रस पैदा नहीं होता। आपने यह भी कहा कि गन्ने आंधी से बच गये। आप इसे धर्म का प्रभाव मानते हैं, पर आज हमारी नई पौध रूपी गन्ने की खेती, ये नौनिहाल, ये यदि गिर गये और उनमें रस नहीं भरा रहा तो आगे देश की बागडोर किसके हाथ में आएगी? धर्म की, चाहे देश की? किनके हाथ में? जो आज के बच्चे और युवा हैं ४० वर्ष, ५० वर्ष तक यह बागडोर उनके हाथ में रहेगी। उनमें यदि रस रहेगा तो वे सही तरीके से देश का संचालन कर पाएंगे यदि उनमें स्वयं में ही रस नहीं होगा तो वे रस कहां कहां से दे पाएगें? मैंने उनसे कहा- यह जो नशे का तूफान है, व्यसन की आंधी है, वह बच्चों को, युवकों को गिरा रही है। वे गिरते चले गये तो इनके भीतर, रस कहां से आयेगा?

बंधुओ! चिन्तन करिये। यदि एक बालक टी.वी पर हजार बार शराब, गुटका या जर्दे का विज्ञापन देखता है तो उसे लगता है कि ये चीजें अच्छी हैं। बार-बार देखने से सेवन करने की जिज्ञासा जागती है और वह सेवन करके अनुभव प्राप्त करना चाहता है इसलिये वह सेवन करने के लिये तैयार हो जाता है। एक वैज्ञानिक शोध में बताया गया है कि अमेरिका में एक १८ वर्ष का लड़का, १८ वर्ष में इक्कीस हजार बार शराब का विज्ञापन देखता है। विचार करिये, २१,००० बार मस्तिष्क पर प्रभाव पड़े तो मति किधर जाएगी? जब विद्यार्थी अवस्था में कच्ची मति उसके ग्रहण में तत्पर हो जाती है तब निश्चित

है कि मति विद्या से हट जाएगी। विद्यार्थी की वह मति व्यापार में लग गई, उसके बाद फिर उससे कहें कि स्कूल में पढ़ने जाओ, तो क्या वह पढ़ाई कर पायेगा? नहीं। क्योंकि उसकी मति डायवर्ट/रूपान्तरित हो चुकी होगी। अब वह अध्ययन में नहीं लगेगी, व्यापार में लगेगी। वैसे ही यदि मति नशे में, तोड़फोड़ में लग जाय तो फिर वह अध्ययन में नहीं लग पाएगी। हम मति को जिधर मोड़ें, वह उधर लगने लग जाती है और एक मति पर जब बार-बार शराब का विज्ञापन आये तो वह उधर न जाय - यह कठिन बात है। यदि विलपावर या आत्मबल मजबूत है तो वह पैरों को थामे रख सकता है, पर मस्तिष्क पर यदि कंट्रोल नहीं है तो पैर थम नहीं पाएगा। इसलिए हमें मति की समीक्षा करनी चाहिए कि वह निर्णय करने में समर्थ है या नहीं। यदि नहीं है, तो उसे वैसी बनाने का प्रयत्न करें कि वह हर स्टेज पर निर्णय लेने में सक्षम हो सके। यदि ऐसी मति का निर्माण कर लिया तो कोई कारण नहीं कि तूफान से न लड़ सकें। वह कंट्रोल में आ सकता है। ड्राइवर सही है तो गाड़ी किधर भी उछाला खाये, वह उस पर कंट्रोल कर लेता है। परन्तु यदि वह नशे में हो, घबरा जाय या अन्य किसी कारण से निर्णय-क्षमता खो दे तो दुर्घटना अवश्यंभावी है।

बंधुओ! चिन्तन-मनन करिये, हमारे भीतर निर्णायक क्षमता है या नहीं? इसी जयपुर शहर में एक व्यक्ति ने प्रश्न किया-जीवन क्या है? आचार्यदेव पूज्य गुरुदेवश्री नानालालजी म.सा ने प्रश्न बना लिया संस्कृत में - किं जीवनं? और उत्तर दिया-

"सम्यक् निर्णायकं समतामयंच यत् तत जीवनम्।"

यही जीवन का सार है। सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में कवि इसी हेतु अर्ज, गुजारिश करता है-

सुमति चरण कज आत्मा अर्पणा.....।

यदि निर्णयक्षमता होती है तो व्यक्ति जीवन में सफल भी होता है - पर यदि जीवन में निर्णय-क्षमता नहीं होती तो वह अनेक बार सफलता के निकट पहुंच कर भी सफलता प्राप्ति करने से वंचित रह सकता है।

यह भी समझ लेने की बात है कि उचित निर्णय लेने में समस्याएं भी आती हैं, पर उनका समाधान भी ढूंढना पड़ता है। सुमति की भूमिका यहीं तो दिखाई देती है। सुमतिनाथ भगवान् की कृपा की इसीलिये भक्त प्रार्थना करता है कि वे सुमति बनाये रखें जिससे निर्णय सही हों और अपेक्षित सफलता मिले।

ज्वलनगति, अश्वग्रीव और स्वयंप्रभा से संबंधित आख्यान इस मति की विचित्र लीला को समझने के अच्छे माध्यम हैं। आख्यान के कुछ संदर्भ मैं पिछले व्याख्यानों में दे चुका हूं। आगे भी संबंधित संदर्भ आपको प्राप्त हो सकते हैं। यहां तो ज्वलनगति की चिन्ता और चिन्ता के कारण तनावपूर्ण मानसिक अवस्था में उसके द्वारा लिये गये निर्णयों तथा उनकी परिणति की चर्चा ही अपेक्षित है।

ज्वलनगति ने निर्णय ले लिया कि पोतनपुर के सम्राट् के पुत्र त्रिपृष्ठ के साथ स्वयंप्रभा की शादी कर दी जाय। पर बीच में अश्वग्रीव द्वारा संकट खड़ा कर दिये जाने की आशंका थी। उन्होंने सोचा कि यहां तो मैं अकेला हूं और अश्वग्रीव जैसे प्रतापी सम्राट् का सामना करने में कठिनाई आ सकती है। अतः अच्छा है कि शादी पोतनपुर जाकर वहीं कर दी जाय। उनकी मति ने मार्गदर्शन किया। परिणामस्वरूप वे उचित निर्णय ले सके। तदुपरान्त उन्होंने प्रजापति को सूचना दे दी कि मैं कन्या को वहीं ला रहा हूं और वहीं से शादी सम्पन्न कर दी जायेगी।

ज्वलनगति अपने कई सामन्तों को लेकर पोतनपुर पहुंच गया। पोतनपुर सम्राट् को जैसे ही मालूम पड़ा, उन्होंने उसकी अगवानी की और समारोहपूर्वक नगर में प्रवेश करवाया। प्रवेश के बाद वे ज्वलनगति के साथ ही रहे। विद्याधरों ने वहां अपने रहने योग्य सुन्दर नगर बसाया। उसी नगर में प्रजापति बारात सजा कर और त्रिपृष्ठ दूल्हे के वेश में पहुंचे। इस अयोजन की सूचना अश्वग्रीव को मिल गई। अंहकार उसके सिर चढ़ कर बोलने लगा। जैसे शराव पीकर व्यक्ति वेभान हो जाता है वैसे ही क्रोध के वश में व्यक्ति आपा खो देता है। जव मस्तिष्क में अहंकार का प्रादुर्भाव होता है, तब मस्तिष्क के तंत्र, कलपूर्जे भी अंहकार से प्रभावित हो जाते हैं, उस समय उसकी विचारधारा सही नहीं होती विवेक का भी विनाश हो जाता है।

भगवान् महावीर ने साधकों से स्पष्ट रूप से कहा है कि क्रोध के वशीभूत होकर भापा का प्रयोग न करें। यदि प्रयोग करेंगे तो वह भाषा मन्तव्य के साथ न्याय नहीं कर पायेगी। आप भारतीय संविधान उठाकर देखिये, कोर्ट-कचहरी में ये स्पष्ट रूप से लिखा जाता है कि मैं अपने होश-हवास में यह हस्ताक्षर करता हूं। व्यक्ति जिस समय क्रोध में, या अंहकार में होता है उस समय वह होश में नहीं होता। क्रोध व मान में जो भाव वनते हैं, कितने भी सही हों, पर तीर्थंकर देवों उन्हें उपयुक्त नहीं मानतें हैं। कल्पना कीजिये कि दूध का वर्तन

भरा है, उसमें खून की दो-चार बूंदें गिर जायं तो क्या वह दूध उपयोग के योग्य रहेगा? जैसे खून की बूंदें गिरने से वह दूध ग्रहण करने योग्य नहीं रहता, वैसे ही भाषा में क्रोध अहंकार के मनोवेगों को मिश्रण हो जाय तो वह अभिव्यक्ति स्वीकार्य नहीं होगी। तीर्थंकर देव तो उसे सत्य भी नहीं कहते।

अश्वग्रीव को ज्ञात हुआ कि स्वयंप्रभा की शादी त्रिपृष्ठ के साथ हो गई है तो उसके मन में आक्रोश आ गया। उसने सोचा कि मैं सार्वभौम राजा हूं मेरा एक छत्र आधिपत्य है। फिर मेरी आज्ञा में चलने वाले राजा ने अपनी कन्यारत्न की शादी उस लड़के से कैसे कर दी? ज्वलनगति मेरी आज्ञा में चलने वाला है उसने मेरी आज्ञा के बिना कैसे शादी कर दी? आक्रोश में आकर उसने दूत को आज्ञा दी कि वह उसका यह संदेश ज्वलनगति तक पहुंचा दे कि रत्न रत्नाकर में ही शोभित होता है। उकरड़ी में नहीं। वैसे ही आपकी वह कन्या महाराजाधिराज अश्वग्रीव के राजमहलों में सुशोभित होनी चाहिये, अन्यत्र शादी कर दी यह उचित नहीं है। इस प्रकार तुमने अपने पैरों पर कुल्हाड़ी मारी है बिना यह सोचे कि परिणाम क्या होगा? सम्राट् की आज्ञा है कि अपना हित चाहते हो तो कन्या को यहां पहुंचा दो,. नहीं तो भीषण दुष्परिणाम के लिये तैयार हो जाओ।। बड़ी कटु बात थी। एक लड़की के पिता के लिये इससे बढ़कर कठोर और क्या आज्ञा हो सकती है कि जिस लड़की की शादी किसी के साथ हो चुकी हो, उसकी शादी किसी अन्य के साथ करो, नहीं तो दुष्परिणाम भुगतने के लिये तैयार हो जाओ। इस बर्बरतापूर्ण आदेश को बरदाश्त करना संभव नहीं था। ज्वलनगति को रोष तो बहुत आया, पर सोचा कि यह रोष करने का समय नहीं है, जो कार्य बल से नहीं हो सकता वह अकल से या बुद्धि से हो सकता है। शांत भाव से उसने दूत से कहा, महारजाधिराज की आज्ञा शिरोधार्य है, पर अब उसकी जिन्दगी जिसके कर में सौंप दी गई है। उस पर उसका अधिकार हो गया है। कन्या अब मेरी वस्तु नहीं रही है। त्रिपृष्ठ के साथ उसकी शादी हो गई है अतः अब सारे अधिकार त्रिपृष्ठ के हो गये हैं मेरा उस पर कोई अधिकार नहीं रह गया है। उससे संबंधित कोई भी आदेश मुझे देना उपयुक्त एवं न्यायपूर्ण नहीं है।

ज्वलनगति राजा की यह बात सुन कर दूत त्रिपृष्ठ के पास गया। वे निर्णायक क्षमता के धनी थे। उन्होंने क्या उत्तर दिया, इस पर बाद में विचार करेंगे। आगे क्या-कुछ घटनाक्रम बना। वह सारा विषय एक साथ नहीं रखा जा

सकता। अभी हम चिन्तन करें कि सुमतिनाथ भगवान् के चरणों में हम अपनी आत्मा को अर्पित क्यों करें? इसलिये कि जैसे दर्पण विकाररहित होता है वैसे ही उनके चरण विकाररहित हैं। क्रोध, मान, माया, लोभ, तेरा-मेरा, ये विकार उनमें न होने से उनकी निर्मल, विकाररहित दर्पण जैसी अवस्था है। वहां अपने आप के मस्तक को नवाया तो तुम्हारा जो बिम्ब बनेगा वह अपने आपके भीतर की अवस्था का पूरा और सही ज्ञान उस दर्पण में करा देगा। जैसे दर्पण लाग-लपेट के बिना पूरा हुलिया दिखा देता है, वैसे ही तीर्थंकर देवों के चरणों में पहुंचोगे तो जैसा तुम्हारा वास्तविक रूप है, वह प्रतिबिम्बित हो जाएगा। तब तुम अपना वास्तविक रूप देख कर स्वयं से परिचित हो सकोगे। जब व्यक्ति अपनी सही छवि देख लेता है तब उसे उसकी कमियां या बुराइयां भी दिखाई दे जाती हैं। तब वह परमात्मा के चरणों का आश्रय लेकर अपने जीवन का परिष्कार कर सकता है। ऐसा यदि तुम करोगे तो अपने जीवन के खोट निकाल कर पवित्र रूप से स्वयं को उपस्थित कर सकोगे। इस प्रकार भगवान के चरणों में उपस्थित हो कर अपनी निर्णायक क्षमता को, अपनी मति को श्रेष्ठ बनायें तो जीवन के खतरनाक मोड़ों पर भी अपने जीवन को सुरक्षित रख सकेंगे। यह सुरक्षा जीवन की ही नहीं, आत्मा की भी होगी। यह इस जीवन की बड़ी उपलब्धि होगी। यह ऐसी उपलब्धि होगी कि उसके बाद किसी और उपलब्धि की न अपेक्षा रहेगी, न आवश्यकता ही रहेगी। आत्मा को अपने गंतव्य तक पहुंचने का मार्ग मिल जाय, इससे बड़ी सफलता और कोई नहीं हो सकती। परन्तु यह सुमति से ही संभव है। इसलिये हम सुमतिनाथ भगवान के चरणों में स्वयं को अर्पित कर दें। सुमतिनाथ भगवान के चरणों में अपना अर्पण ही सद्बुद्धिदायक है।

❑❑